Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 27, अंक 2
जुलाई, 2013

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 27 अंक 2 जुलाई, 2013

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003. दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग — *अम्बिकादत्त शर्मा* 5
2. शास्त्रीय और शास्त्रेतर पद्धति द्वारा व्याप्ति–लक्षण परीक्षण — *राजवीरसिंह शेखावत* 81
3. सत् पर विचार — *मुकुन्द लाठ* 102

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग

अम्बिकादत्त शर्मा

इस आलेख के माध्यम से हमारा उद्देश्य दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय अध्येतृता की दशा–दिशा एवं कतिपय उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उसकी एक झाँकी प्रस्तुत करना है। आज से लगभग नौ दशक पूर्व जब सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता अपना मैगनम ओपस 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफ़ी' पाँच भागों में (कैम्ब्रीज) लिख रहे थे तो उन्होंने कहा था –"इतिहास में सम्भवतः पहली बार भारत के महान् ऋषियों ने 'स्वतंत्रता' का बिलकुल सही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपने जीवनानुभव, आलोचनात्मक चिन्तन–मनन, दृढ़ इच्छाशक्ति और यहाँ तक कि स्वयं के नकार द्वारा भी अपनी निष्ठा को सत्यान्वेषण और मनुष्य के परम आध्यात्मिक सार–स्वरूप की खोज में चरितार्थ किया था।" आज 21वीं शताब्दी के इस दूसरे दशक में हम उसी महा परम्परा और विरासत के उत्तराधिकारी हैं। इस उत्तराधिकार को न केवल हमें गर्व के साथ आत्मसात करना चाहिए बल्कि यदि आवश्यक हो तो अपेक्षित परिष्कार के साथ इस विरासत को भावी पीढ़ी के योग्य हाँथों में सौंपा भी जाना चाहिए। वस्तुतः इस सर्वेक्षणात्मक आलेख की साकांक्ष्य फलश्रुति भी उन योग्य हाँथों के समक्ष उनके विरासत बोध को जगाना ही है।

हममें से प्रायः सभी को किसी न किसी रूप में इस आलोचनात्मक टिप्पणी का सामना करना ही पड़ता है कि स्वाधीन भारत में हमने कुछ भी ऐसा उत्पादित नहीं किया है जिसे दार्शनिक दृष्टि से आधारभूत और मौलिक कहा जा सके। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार की टीका–टिप्पणी को भी औपनिवेशिक मन की ही उपज कही जा सकती है। प्रश्न उठता है कि दर्शन के क्षेत्र में मौलिकता और आधारभूत होने का क्या मतलब है? द्रष्टव्य है कि यूरोपीय दृष्टि में मौलिकता का अर्थ सर्वथा आमूल उद्भावना से लिया जाता है लेकिन भारतीय दृष्टि में मौलिकता का मतलब कभी भी विचारों के

*यह आलेख अपने प्रारम्भिक रूप में स्व. प्रो. एस.पी. दुबे के साथ सहलेखन में चिन्तन–सृजन, वर्ष–10, अंक–2, अक्टूबर–दिसम्बर 2012 में प्रकाशित हुआ था। यहाँ उसी का परिवर्द्धित रूप प्रकाशित किया जा रहा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्षेत्र में आमूल उत्प्रेक्षा से नहीं रहा है। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' और 'उर्ध्वमूलं अधः शाखां'— के भावबोध के साथ मौलिकता यहाँ सदैव ही परम्परा के उपबृहण और उसकी पुनर्व्याख्या के रूप में ही पुरस्कृत होती रही है। अग्नि पुराण की यह पंक्ति मौलिकता विषयक भारतीय दृष्टि को बखूबी उजागर करती है — किमत्रबहुनोक्तेन् नास्तिक्यं हेतु कारकम्। जिज्ञासा हि न नास्तिक्यं साधमेत साधुबुद्धिषु।। इस दृष्टि से देखा जाय तो इसमें दो राय नहीं कि भारत की प्राचीन निगमागमिक, आस्तिक—नास्तिक दर्शन परम्परायें अपने आप में बहुत समृद्ध और सूत्र, भाष्य, वार्तिक एवं अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रन्थों के माध्यम से बहुत ही गतिशील और वर्द्धमान रही हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि परम्परागत भारतीय दर्शन की वह प्रवहमान अन्तःसलिला आज विलुप्त प्राय हो गई है। वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन पदावली से हम जिस युग के दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं को चिह्नित करना चाहते हैं वह भी पारम्परिक भारतीय दर्शन का ही वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक—नकारात्मक प्रभावों के साथ उसका युगानुरूप पुनराविष्कार ही है। किसी भी विचार परम्परा की पुनर्व्याख्या और पुनराविष्कार की अपनी ही गति होती है। इस प्रक्रिया में मूल विचार—परम्परा का उन्नयन भी होता है तो कहीं—कहीं विजातीय प्रभावों के चलते उसके अवमूल्यन की सम्भावना भी बनी रहती है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन भी इस तथ्यात्मकता का अपवाद नहीं है। यह एक ओर अपनी मूल प्रेरणा अभी भी वैदिक—अवैदिक परम्परा से निःसृत दर्शनों से ही ग्रहण करता है तो दूसरी ओर कहीं—कहीं पश्चिमी विचारों के प्रभाव में अपने मूल से भटकता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह देखना उचित होगा कि इन सबके बावजूद स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन अपने दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं के साथ आज भी कितना जीवन्त बना हुआ है। अपने मूल से ही प्राणदाशक्ति पाकर किन—किन दिशाओं में अपना युगीन विस्तार पा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन भारतीय दर्शन के स्वरूप की बेहतर समझ के लिए उसकी रूपरेखा को कालक्रम की दृष्टि से तीन अन्तरिम खण्डों में विभाजित कर देखना यहाँ समीचीन होगा। इसमें पहले कालखण्ड को उसकी 'पैतृक पृष्ठभूमि' से अभिहित किया जा सकता है। यह काल वस्तुतः अंग्रेजी राज का है जिसकी शुरूआत 1858 से होती है और 20वीं शताब्दी के दूसरे चरण तक आते—आते इसका अवसान हो जाता है। 19वीं शताब्दी में जन्मे लेकिन स्वतंत्रता के पूर्व तक सक्रिय रहे दर्शनिकों और उनके लेखन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। दूसरे कालखण्ड में दर्शनिकों की उस पीढ़ी को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के तीसरे चरण में सक्रिय रहे। इस पीढ़ी को स्वातंत्र्योत्तरयुगीन अध्येताओं की पहली पीढ़ी कहा जाना उचित होगा। इसी तरह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के तीसरे कालखण्ड में वैसे अध्येताओं को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के चौथे चरण में सक्रिय रहे। वस्तुतः यह कालखण्ड स्वातंत्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की दूसरी पीढ़ी है। इस पीढ़ी के अध्येताओं की सक्रियता 21वीं शताब्दी तक विस्तार पाती है। इस पीढ़ी के अन्तर्गत भारतीय विश्वविद्यालयीय व्यवस्था में प्रशिक्षित अनेकों वरिष्ठ दार्शनिकों के नाम गिनाये जा सकते हैं लेकिन साथ ही साथ कुछ युवा दार्शनिकों को भी इसी पीढ़ी के अध्येताओं के रूप में मान्य किया जा सकता है जिन्होंने दर्शन के क्षेत्र में अपेक्षित जागरुकता दिखाई है और महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप भी किये हैं। ऐसे युवा अध्येताओं को स्वातंत्र्योत्तर युग की तीसरी पीढ़ी मानी जा सकती है। स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन के अध्येताओं की एक चौथी पीढ़ी का भी संकेत करना यहाँ अनुचित नहीं होगा जो वास्तव में सम्प्रति अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धता के साथ उदीयमान हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस उपर्युक्त रूपरेखा का रंग–रोगन करने के लिए हम आगे बढ़ें, इससे पहले एतद्विषयक अपनी कुछ सीमाओं का विनयपूर्वक संकेत कर देना उचित होगा। देखा जाय तो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का क्षेत्र न केवल विस्तृत बल्कि उसका क्षेत्रज्ञ बहुआयामी भी है। इसीलिए इसकी दशा–दिशा और उपलब्धियों का आकलन करना एक कठिन कार्य है। इसके समुचित आकलन और मूल्यांकन के लिए तो कई खण्डों में पुस्तकाकार लेखन भी अन्ततः अर्प्याप्त ही रहेगा। ऐसे में एक आलेख के अन्तर्गत इसके सतत् वर्द्धमान क्षितिज को समाहित करने का मेरा यह प्रयास एक अकादमिक खतरा उठाने जैसा ही कहा जायेगा। इसलिए विषय–वस्तु के विस्तार और अपनी सीमाओं का ध्यान रखते हुए हम यहाँ स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की एक सिलसिलेवार झाँकी ही प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि कुछ वरिष्ठ दार्शनिकों को और कुछ कनिष्ठ तथा उदीयमान अध्येताओं को हम सन्दर्भित न कर पायें। परन्तु इसे उन वरिष्ठों के प्रति अवमानना और कनिष्ठों के प्रति अनुराग का अभाव नहीं समझा जाना चाहिए। इसे हम 'स्मृतिप्रमोष' रूप अपना मानवोचित दोष ही स्वीकार करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

I

औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन की क्या दशा–दिशा रही, इसका जायजा लेने के लिए ऑक्सफोर्ड प्रेस से 2011 में ही प्रकाशित एक ग्रन्थ को सन्दर्भित करते हुए अपनी बात को आगे बढ़ाना उचित होगा। 'इण्डियन फिलॉसफ़ी इन इंगलिस – फ्रॉम रेनांसा टू इण्डिपेन्डेंस' नामक इस ग्रन्थ को नलिनि भूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड ने मिलकर सम्पादित किया है। यह ग्रन्थ भारतीय पुनर्जागरण काल से लेकर भारत में ब्रिटिश राज के अवसान काल तक भारतीय दर्शन की स्थितिपरक एक अच्छी तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसमें विवेकानन्द, लाजपत राय, टैगोर, अरविन्द घोष, भगवानदास, रामचन्द्र रानाडे, हीरालाल हलधर, के.सी. भट्टाचार्य, सूर्यनारायण शास्त्री, हिरियन्ना, कुमार स्वामी, मलकानी, ए.सी. मुखर्जी, पी.टी. राजू तथा रास बिहारी दास इत्यादि के ऐसे प्रकीर्ण आलेखों को सम्मिलित किया गया है जो स्वयं उन दार्शनिकों और तत्कालीन भारत की नव्य वेदान्त परक दार्शनिक मनोवृत्ति को दर्शाता है। हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि सम्पादक द्वय ने अपने इस दस्तावेजी उपक्रम में हममें से एक (एस.पी. दुबे) के द्वारा चार भागों में सम्पादित 'फैसेट्स ऑफ रिसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी' का समारोह के साथ उल्लेख किया है और अपने उपकम के लिए स्रोत ग्रन्थ के रूप में उसका उपयोग भी किया है। इस ग्रन्थ के चारों भागों का सम्पादन उन्होंने 1994 से 1998 के बीच किया था और इसकी सामग्री वे अध्यक्षीय भाषण रहे जो 1925 से लेकर तब तक देश के लब्ध प्रतिष्ठित दार्शनिकों एवं अध्येताओं के द्वारा 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' के विभिन्न अधिवेशनों में दिये गये थे। द्रष्टव्य है कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' एक ऐसा संगठन है जो अपने दार्शनिक उपक्रमों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से संचालित करता है। इसलिए यह तो स्वाभाविक ही है कि उपर्युक्त सम्पादित ग्रन्थों की सामग्री और भाषा अंग्रेजी ही है। इस सन्दर्भ में प्रो. दयाकृष्ण की एक टिप्पणी का स्मरण आना स्वाभाविक है, जो पूरे तौर से सही नहीं भी होते हुए उल्लेखनीय अवश्य है। वह यह कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी दार्शनिक पुनर्रचना अंग्रेजी माध्यम से प्रस्तुत करता है, उसे सही अर्थों में भारतीय दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। हकीकत यह है कि अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दर्शन को उसकी उस प्रामाणिकता में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जिस प्रामाणिकता के साथ वह अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत हुआ है। भारतीय दर्शन का अध्येता होने के लिए यह जरूरी शर्त है कि उस व्यक्ति की संस्कृत, पाली और यहाँ तक कि प्राकृत भाषा में अच्छी पकड़ हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में देखा जाय तो 1835 में थॉमस मैकाले द्वारा प्रस्तावित 'मिनट्स ऑफ एजुकेशन' के बाद भारतीय शिक्षा व्यवस्था में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाया गया और इसी के साथ प्रोटेस्टेंट मिशनरी प्राध्यापकों ने भारतीय महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम से दर्शन के अध्ययन–अध्यापन का जिम्मा लिया। द्रष्टव्य है कि भारतीय पुनर्जागरण में दर्शनशास्त्र की केन्द्रीय भूमिका रही है। इसने स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक गति और उत्तेजना प्रदान कर वैतालिक की भूमिका निभाई है। श्री अरविन्द ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति "दी रेनांसां इन इण्डिया"(1918) में इसे उचित ही भारत का पुनर्जागरण कहा है। दार्शनिकों ने ही भारत के जन–गण की राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया है। उस समय के दार्शनिकों ने न केवल इस संघर्ष में दर्शन की भूमिका को तय किया बल्कि उस संघर्ष के माध्यम से अपने दर्शन को जीवन में चरितार्थ करने का अर्थ भी प्रदान किया। वह इस रूप में कि 'अमृत पुत्र' के रूप में स्वतन्त्रता मनुष्य होने का तत्त्वमीमांसीय अधिकार है। वह जो इसे आत्मसात नहीं कर सकता और वह जो इसे हरने का दम्भ भरता है, दोनों अज्ञानी ही कहे जा सकते हैं। निश्चय ही औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिक जितना सृजनधर्मी उतना ही प्रामाणिक और वैश्वीय दृष्टि रखने वाले थे। यहाँ यह अवधेय है कि पूरा का पूरा स्वातन्त्र्योत्तर युग का भारतीय दर्शन अपने इसी पैतृक पृष्ठभूमि में ही मूलित है। उस समय के बहुतेरे स्वनामधन्य शिक्षकों ने अनेकों अध्येताओं को दर्शन में प्रशिक्षित किया और वही स्वातंत्र्योत्तर युग के भारतीय दार्शनिक के रूप में मान्य हुए। वास्तव में उन लोगों ने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक नई परम्परा की जड़ रोपी और न केवल भारत का समकालीन दर्शन वल्कि विश्व दर्शन भी उनके इस दार्शनिक नवारम्भ का ऋणी है।

औपनिवेशिक काल में भारतीय दर्शन के कुछ एक प्रतिनिधि विचारक बड़े ही मूर्धन्य और जननायक जैसे रहे। इनमें महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी को सर्वाधिक प्रभावशाली चिन्तकों में परिगणित किया जा सकता है। टैगोर (1861–1941) की असाधारण और अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा पर तो भारत को गर्व है। इनकी प्रतिभा तो संस्कृति की दार्शनिक समझ और मनुष्य की गरिमा के क्षेत्र भारत की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित हुई है। स्वयं राधाकृष्णन् इनकी 'समग्रतावादी दृष्टि' के कायल थे और अपनी एक प्रारम्भिक पुस्तक में उन्होंने लिखा भी है कि टैगोर की समग्रतावादी दृष्टि ऐसी है जिसे शरीर और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मन तथा जड़ और चेतन के द्वैत में विभाजित नहीं किया जा सकता (द्रष्टव्य, दी फिलॉसफी ऑफ आर. टैगोर –1918)। महात्मा गाँधी (1869–1948) ने तो आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करते हुए भारत को एक दर्शनाधारित अतिविशिष्ट राजनीति दिया जो आज भी न केवल भारत के लिए धरोहर जैसा है वल्कि पूरी विश्वमानवता आज उसमें अपना त्राण देखती है। उनके दर्शनाधारित राजनीति के निहितार्थ को बस चन्द शब्दों में यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता सही अर्थों में तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने आप में अन्दर से स्वतन्त्र हो, और व्यक्ति की ऐसी स्वतंत्रता अपने ऊपर आत्मनियंत्रण, आत्मालोचन तथा आत्मानुशासन से ही सम्भव है। अपने हिन्द स्वराज (1909) में उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के वैज्ञानिक तकनीकी पक्षों की बखूबी आलोचना हाइडेग्गर से भी गहरे में जाकर की है और भारत के स्वराज की वास्तविक रूप–रेखा को प्रस्तावित किया है। इसके लिए उन्होंने साधन के रूप में केवल और केवल अहिंसा और सत्याग्रह को अपनाया। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गाँधीजी भारत से बाहर पश्चिमी दुनियाँ की अच्छी चीजों के प्रशंसक नहीं थे। 'यंग इण्डिया' (26–06–1924) में उन्होंने लिखा है "स्वराज की मेरी अवधारणा भारतीय सभ्यताबोध की अद्वितीय विशिष्टता को अक्षुण्ण रखती है। हम बहुत कुछ लिखना चाहते हैं लेकिन उन सब को भारतीयता के स्लेट पर ही लिखा जाना चाहिए। हम पश्चिम से तभी कुछ लेने के हकदार हैं जब हम बदले में उसे वह सूदसहित लौटा सकें।"

अवधेय है कि उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन अपनी प्रकृति में अधिकांशतः आदर्शवादी और प्रत्ययवादी रहा है। इसकी मूल प्रेरणा का स्रोत वेदान्त रहा लेकिन उस काल की दार्शनिक पुनर्रचनाओं को 'नववेदान्त' से अभिहित किया जा सकता है जिसने अपनी दार्शनिक योजना में प्रगतिशील रचनात्मक जीवन के लिए अधिक अवकाश निर्मित किया है। इस काल की दार्शनिक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारकों की उस आलोचना के प्रत्युत्तर में भी देखा जा सकता है जिसे अलबर्ट स्वीटजर (1875–1965) ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवेलपमेंट' (1936) में यह कहते हुए सन्दर्भित किया है कि भारतीय दर्शन पलायनवादी है। वस्तुतः स्वीटजर का यह दृष्टिकोण शॉपेनहावर (1788–1860) जैसे विचारकों की औपनिषदिक समझ पर आधारित है। इसका पुरजोर उत्तर सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् ने अपनी कृति 'ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट (1939) में दिया है। उनके अनुसार यह धारणा ऐतिहासिक रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती कि हिन्दू

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिन्तन में जीवन और जगत् के प्रति नकार और निराशा निहित है जबकि ईसाई चिन्तन अपने स्वरूप में जीवन और जगत् के प्रति स्वीकार्यता और आशावाद को लिए हुए है। वास्तव में दोनों के बीच का वास्तविक विरोध धर्म और स्वायत्त–मानववादी दृष्टिकोण को लेकर है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना हम उचित समझते हैं कि 1916 में अमलनेर, महाराष्ट्र में श्रीमन्त प्रताप सेठ के सौजन्य से 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' की स्थापना हुई और कोल्हापुर में मई 1917 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल ऐसोसिएशन' का पहला अधिवेशन हुआ तथा 'इण्डियन फिलॉसफिकल रेव्यू' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया। इसका पहला अंक जुलाई 1917 में प्रकाशित हुआ। ये सभी संस्थागत प्रयास औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन को संसदीय स्वरूप प्रदान करने वाले प्राथमिक और पहलकारी प्रयास रहे हैं।

उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के संसदीय स्वरूप को समझने के लिए एतद्विषयक ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि और फ्रैंच औपनिवेशिक दृष्टि के अन्तर को समझना भी बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। इन दोनों परम्पराओं के विचारकों की समझ भारतीय दर्शन के प्रति एक–दूसरे से भिन्न रही है। भारत में श्री अरविन्द (1872–1950) के चिन्तन को 'फ्रैंच औपनिवेशिक दृष्टि' से प्रभावित और उसी का प्रतिनिधित्व करने वाला माना जा सकता है। श्री अरविन्द मौलिक रूप से एक प्रत्ययवादी दार्शनिक थे और उन्होंने वैदिक तत्त्वदृष्टि को 'विकासवादी प्रारूप' में देखते हुए एक ऐसा 'समग्र अद्वैतवादी दर्शन' प्रस्तुत किया है जिसमें जड़ और चेतन का अन्तहीन द्वैत नहीं बल्कि दोनों एक ही वैश्विक प्रक्रिया के समान भागीदार हैं। अनन्त के तर्क और मायावाद के बदले लीलावाद पर आधारित उनका दर्शन भौतिकवादियों के 'एस्सेटिक डेनायल' और अध्यात्मवादियों के 'मैटेरियलिस्टिक डेनायल' नामक दो अतियों से बचते हुए इस पृथ्वी पर 'दिव्य जीवन' के अवतरण का दर्शन है। अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास दर्शन, संस्कृति दर्शन और योगसमन्वय के द्वारा उन्होंने भारतीय सभ्यताबोध को दुनियाँ के समक्ष जिस 'कॉस्मिक टेलियोलॉजी' के साथ प्रस्तुत किया है वह अपने आप में जितना मौलिक है उतना ही प्रयोगधर्मी और सार्वभौमिक चरित्र वाला है। इस विश्वद्रष्टा ऋषि को अपनी दार्शनिक योजना के याथार्थ्य पर कितना भरोसा रहा होगा कि उन्होंने भारत की स्वाधीनता को भी एक वैश्वीय भवितव्यता के अंगभूत घटना के रूप में देखा। इस अर्थ में भारत की स्वतन्त्रता का मूल्य महज राजनीतिक और भौगोलिक न होकर वैश्वीय हो जाता है। यह मानव की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदर्श एकता के चरितार्थीकरण में भारत की भूमिका का हेतुबन्ध है। ऐसा कहा जाता है कि अंग्रेजी गुलाम बनाने वाली भाषा है लेकिन एक गुलाम देश में जन्मी प्रतिभा ने अंग्रेजी भाषा को ही माध्यम बना कर 'लाइफ डिवाइन' जैसा ग्रंथ लिखा और मानव मुक्ति का शंखनाद किया। शायद ही मानव जाति के इतिहास में अभी तक किसी दार्शनिक कहे जाने वाले मनुष्य ने मानव मुक्ति का इतना बड़ा सपना देखा हो।

ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीय दार्शनिकों में के.सी. भट्टाचार्य (1876–1949) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। वे आधुनिक भारत के ऐसे तत्त्वमीमांसक थे जिन्होंने अद्वैतवेदान्त की पुनर्रचना काण्ट और हेगेल की विचार–सरणी के समानान्तर दुनियाँ के समक्ष रखा। अपने बहुविध प्रकरणात्मक निबन्धों यथा 'कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी', 'सब्जेक्ट एज फ्रीडम', 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फार्म्स' इत्यादि के द्वारा उन्होंने अपनी दार्शनिक पुनर्रचना को आधार प्रदान किया है। यद्यपि उन्होंने भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों पर अन्तर्दृष्टि सम्पन्न प्रकरणात्मक लेखन किया है लेकिन ऐसे अवान्तर लेखन जो लीक से हटकर हैं उनमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद (1925) की पुनर्व्याख्या लीक से हटकर विशेष महत्त्व की प्रतीत होती है। उन्होंने अनेकान्तवाद के दार्शनिक–तार्किक महत्त्व को पुनरोद्घाटित करते हुए यह दिखाया कि न तो तादात्म्य और न ही विरोध को तार्किक विचार–सरणी के लिए आधारभूत माना जा सकता है। वस्तुतः तादात्म्य और विरोध दोनों ही परस्पर विनियोजनीय हो सकते हैं और दोनों की ऐसी विनियोजनीयता (अल्टरेशन) ही व्यापक दार्शनिक आधार को प्रस्तुत करती है। तादात्म्य और विरोध के बदले 'सहावस्थान' (टुगैदरनेश) तार्किक विचार–सारणी की अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कोटि है जिसे जैन दार्शनिकों ने 'क्रमर्पण और सहर्पण' नामक दो प्रारूपों में देखा है। कुल मिलाकर 'अनेकान्तवाद' अनिर्वाच्यता का एक विशिष्ट तर्कशास्त्र है जो सप्तभंगी नय के द्वारा सत्य की वैकल्पिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। के.सी. भट्टाचार्य द्वारा अनेकान्तवाद की ऐसी व्याख्या को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र और सामासिक अथवा बहुलवादी संस्कृति के लिए उपर्युक्त दार्शनिक आधार के रूप में समझा जा सकता है।

भारत के पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में के.सी. भट्टाचार्य का 'स्वराज इन आइडियाज़' नामक व्याख्यान भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है जिसे उन्होंने 1929 में हुगली कॉलेज, कलकत्ता के विद्यार्थियों के बीच दिया था। बाद में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसका प्रकाशन विश्वभारती जर्नल – अंक–, 1954, में हुआ है। उनका यह व्याख्यान अपने आप में भारत के 'वैचारिक स्वराज' का दार्शनिक घोषणा–पत्र जैसा है। द्रष्टव्य है कि 1984 में पुणे से प्रकाशित 'इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली (अंक – Xi, 4) में उनके इस व्याख्यान का पुनर्मुद्रण किया गया और डॉ0 दयाकृष्ण, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. रामचन्द्र गाँधी, डॉ. एस.पी. गौतम सरीखे लोगों ने इस व्याख्यान के भाष्य किये हैं। यद्यपि यह व्याख्यान उन्होंने अंग्रेजी में दिया था लेकिन वैचारिक स्वराज के मातृभाषीय राजपथ के महत्त्व और पश्चिमी विचारों के असमीक्षित पृष्टपेषण के दुष्परिणामों को उन्होंने बखूबी उजागर किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी निर्देशित किया है कि भारतीय दर्शन को किस प्रकार एक सार्वभौमिक ज्ञानविधा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वैचारिक स्वराज के आशय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ''सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारम्भ से ही निहित होती हैं। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना सदैव अवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनायें उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।

स्वराज की भारतीय अवधारणा के सन्दर्भ में यहाँ भारत रत्न डाँ भगवानदास (1869–1958) के उस आलेख का जिक्र करना प्रासंगिक प्रतीत होता है जिसे उन्होंने 1921 के मुम्बई कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव–पत्र के रूप में प्रस्तुत किया था। यद्यपि उन दिनों स्वराज के स्वरूप को लेकर बुद्धिजीवियों के बीच मतभेद और सामान्यजन में अनेकों भ्रान्तियाँ पनप गई थीं और इन्हीं सब को दूर करने के लिए इस प्रस्ताव–पत्र को उन्होंने तैयार किया था लेकिन उनके इस आलेख की चर्चा अकादमिक जगत् में नहीं के बराबर होती है। डॉ. भगवानदास जो कि एक महान् शिक्षाविद्, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े एक बहुमान्य बुद्धिजीवी और थियोसोफिकल सोसायटी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से जुड़े सक्रिय व्यक्ति थे। उनके अनुसार 'स्वराज' मूल रूप में एक नैतिक प्रत्यय है और व्यवस्था के अर्थ में यह 'स्व–शासन' है। जिस प्रकार एक व्यक्ति में दो तरह की आत्मा–एक उच्चतर और दूसरा निम्नतर– का निवास होता है अर्थात् व्यक्ति दैवीय और पाशविक दोनों ही प्रवृत्तियों से संचालित होता है, उसी प्रकार किसी समाज और राष्ट्र की भी उच्चतर और निम्नतर आत्मा होती है। कोई भी सरकार या शासन तभी सुशासन अथवा 'स्व–शासन' से अभिहित हो सकता है जब वह उच्चतर आत्मा द्वारा संचालित हो। उच्चतर आत्मा से अभिप्रेरित राज–काज और नीति ही अधिकाधिक समन्वयकारी हो सकती है। इसका लोकतांत्रिक क्रियान्वयन और व्यवस्थापन केवल विवेकवान विधायिका के द्वारा ही सम्भव है, जो प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले 'मैं' और 'हम' को समन्वित कर सके। प्रतिस्पर्धा और परस्पर सहयोग दोनों ही आवश्यक हैं, उसी प्रकार वैयक्तिक पहल और सामाजिक विनियोग दोनों ही स्वस्थ एवं समृद्ध समाज के लिए अपरिहार्य हैं। यदि हम भारत के स्वराज को इसी अर्थ में लें, और उसकी स्थापना ऐसे ही औचित्यपूर्ण विधि तथा आध्यात्मिक मनोवृत्ति के निर्वाचित विधायकों के द्वारा हो, तभी भारत जिस स्वराज को प्राप्त करने की लड़ाई लड़ रहा है, वह स्वराज शताब्दियों तक अक्षुण्ण रह सकेगा। डॉ. भगवानदास की यह अन्तर्दृष्टि, वास्तव में, लोकतंत्रात्मक स्वराज की नैतिक आधारभूमि की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत है। इस नैतिक आधार के बिना किसी भी लोकतंत्र को 'भीड़तंत्र' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक ही है। उनकी अनेकों बहुमान्य कृतियों में 'दी एस्सेन्सियल यूनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स' (1939) सर्वाधिक·प्रतिष्ठित कृति है।

इस युग के मान्य अध्येताओं में आर.डी. राणाडे (1886–1957) का व्यक्तित्व बिलकुल अलग प्रकार था। उनकी प्रसिद्धि एक दार्शनिक के साथ–साथ रहस्यविद् के रूप में भी थी।. 'ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी' (1927) उनकी बहुमान्य कृति है। इसमें उन्होंने न केवल औपनिषद् दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा और अन्तर्वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है बल्कि लॉर्ड रोनाल्डसे की उस आलोचना को सिरे से खारिज भी किया है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है। उनके जीवनकाल की अन्तिम कृति 'भगवद्गीता एज ए फिलॉसफी ऑफ गॉड रियलायजेशन' (1959) थी। मरणोपरान्त उनकी मैगनम ओपस कृति 'वेदान्त – दी कल्मीनेशन ऑफ इण्डियन थॉट' (1970) नाम से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को उन्होंने महान् समन्वयकारी दार्शनिक सिद्ध किया है और साथ ही साथ यह प्रतिपादित किया है कि 'स्वाराज्यम् वैराज्यम्' की वैदिक दृष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' के सिद्धान्त की अपेक्षा उच्चतर आदर्श को प्रस्तुत करती है। 'स्वाराज्यम्–वैराज्यम्' की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति ही वास्तव में देवाधिदेव 'अनन्याधिपति' होता है। आर.डी. राणाडे के ही समकालीन अनुकूलचन्द्र मुखर्जी (1888–1968) थे जिन्हें उचित ही 'इलाहाबाद का प्लेटो' कहा जाता था। 'दी नेचर ऑफ सेल्फ' (1938) एवं 'सेल्फ, थॉट एण्ड रियलिटी' (1957) उनकी अति प्रसिद्ध और गम्भीर दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने अद्वैतवेदान्त में परम चैतन्य के स्वरूप को ब्रिटिश–नवहेगलवादी अभिगम में उद्घाटित किया है। ये अपने समय के अत्यन्त सम्भावनावान और मौलिक भारतीय दार्शनिकों में अन्यतम रहे। इनकी रचनाओं में तुलनात्मक दार्शनिक संस्कृति और उसकी नवोन्मेषी सृजनात्मकता का भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में उत्कर्ष देखा जा सकता है। अनुकूल चन्द्र मुखर्जी की दार्शनिक मौलिकता से अवगत होने के लिए नलिनी भूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड की पुस्तक "इण्डियन फिलॉसफी इन इंगलिश : फ्राम रेनांसा टू इण्डिपेंडेंस" बहुत उपयोगी है।

औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिकों में सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्ण (1888–1975) का नाम निर्विवाद रूप में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। पूरे विश्व में इनकी प्रतिष्ठा 'पूरब और पश्चिम के प्रवक्ता' के रूप में थी। इन्होंने मानव जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या 'नव–वेदान्तवादी' दृष्टि से किया है। नव–वेदान्त की तत्त्वमीमांसा को उन्होंने परमतत्त्ववादी वैश्वीय दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में पुनर्व्याख्यायित करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह दृश्यमान जगत् परम सत् का ही आभास है लेकिन फ़िर भी यह भ्रम मात्र नहीं, जैसा कि अद्वैत वेदान्त के परम्परागत चिन्तक मानते रहे हैं। वस्तुतः शंकर के मायावाद का विरोध और जगत् की यथातथ्यता का स्वीकार औपनिवेशिक युग के नव–वेदान्ती–चिन्तन की प्रस्थानमूलक विशेषता रही है। राधाकृष्ण का 'धार्मिक अनुभूति' के स्वरूप की व्याख्या और धर्म के औचित्य प्रतिपादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। पूरब और पश्चिम के मध्य दार्शनिक संवाद की आवश्यकता को औचित्यपूर्ण ठहराते हुए उन्होंने तुलनात्मक दर्शन को सदैव बढ़ावा दिया। इस हेतु हवाई विश्वविद्यालय, अमेरिका में 'ईस्ट–वेस्ट सेन्टर' की स्थापना में उन्होंने पहलकारी भूमिका निभाई थी। 'एन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाईफ' में उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया कि बुद्धि सत्य को उसकी सम्पूर्णता में जान ही नहीं सकती। अन्तःप्रज्ञा ही मानवीय चेतना का वह आयाम है जहाँ सत्य अपनी सम्पूर्णता में साक्षात्कृत होता है। इस अन्तःप्रज्ञात्मक साक्षात्कार में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सारे द्वैतों का, आपातिक विरोधों का उपशमन हो जाता है। यही अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति धर्म, नीति और सर्वसमावेशी अद्वैत सत्ता को प्रमाणित करती है। बुद्धि केवल विश्लेषण में ही विश्रान्त हो जाती है लेकिन अन्तःप्रज्ञा अपने संश्लेषणात्मक व्यापार में एक समग्र बोध के साथ आदर्श जीवन की सम्भावना को प्रस्तुत करती है। अपने 'आदर्श जीवन' की अवधारणा को उन्होंने हिन्दू जीवन दृष्टि पर सफलता के साथ लागू कर दिखाया है। अपनी एक महत्त्वपूर्ण दूसरी कृति 'दी हिन्दू व्यू ऑफ लाईफ' में उन्होंने पश्चिम के समक्ष इस भारतीय सत्य को प्रामाणिकता के साथ उजागर किया कि भारत की सांस्कृतिक–धार्मिक चेतना बहुदेववादी होते हुए भी अद्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हजारों वर्षों से अनेकता में एकता वाली भारतीय संस्कृति का यही अमृतनाभ है जिसके चलते अनेक उतार–चढ़ावों और वैजात्य प्रहारों के बावजूद इसकी प्राणदा शक्ति समाप्त नहीं हुई है।

यद्यपि नव्यवेदान्त की तर्कसम्मत विश्लेषणात्मक तत्त्वमीमांसा की शुरूआत औपनिवेशिक युग में के.सी. भट्टाचार्य से ही होती है लेकिन उसी परम्परा में रासबिहारी दास (1897–1976) भी आते हैं जिन्होंने उसे अपने तरीके से आगे बढ़ाया है। काण्ट के परमसत् विषयक विशिष्ट संशयवाद और व्हाइटहेड के चिन्तन के प्रभाव में वेदान्ती तत्त्वमीमांसा की पुनर्रचना को उनके दार्शनिक चिन्तन का सर्वाधिक मौलिक पक्ष माना जा सकता है। 'रेव्यू ऑफ मेटाफ़िज़िक्स' (अंक–10 से 1– 1956) में प्रो0 बुर्च ने उनके सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि प्रो0 दास का दार्शनिक चिन्तन 'यूथफुल स्पेक्युलेशन' और 'मैच्योर एनालिटिकल' नामक दो चरणों में विकसित हुआ है। इसमें पहले चरण की सम्पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक 'सेल्फ एण्ड दी आइडियल' (1935) में देखी जा सकती है। यद्यपि यह पाश्चात्य प्रभाव में विकसित हुआ उनका चिन्तन है जो स्पष्टतः वेदान्त की परम्परा में आते हुए भी इस अर्थ में अत्यन्त मौलिक है कि उसे परम्परागत वेदान्त दर्शन के किसी सम्प्रदाय से बाँधा नहीं जा सकता। उनकी अन्य पुस्तकाकार कृतियों में 'दी एस्सेन्सियल ऑफ अद्वैतिज़्म' (1931), 'दी फिलॉसफी ऑफ व्हाइटहेड' (1937) एवं 'एन इन्ट्रोडक्शन टू शंकर' (1968) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो. दास के दार्शनिक योगदानों को समझने के लिए उनके प्रकीर्ण लेखनों का संग्रह (रासबिहारी दास : फिलॉसफिकल एस्सेज, सम्पा. रामप्रसाद दास, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता) बहुत ही उपयोगी है।

औपनिवेशिक युग के वैसे विश्वप्रसिद्ध चिन्तक और बुद्ध पुरुष जो भारतमाता की गोद में पैदा हुए, उनमें जिद्दू कृष्णमूर्ति (1895–1986) का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सभ्यता की वर्तमान दहलीज पर मनुष्य की चेतना पर शताब्दियों से पड़े परम्परा, इतिहास और गहन मनोवैज्ञानिकता की परतें जो मनुष्य को उत्तरोत्तर परतंत्रता की जंजीर में जकड़ती जा रही हैं, उनका भंजन करते हुए 'क्रियात्मक मानव स्वातन्त्र्य' के इस भाष्यकार ने अपने जीने योग्य जीवन्त विचारों से पूरी दुनियाँ के समक्ष एक मौलिक जीवन–दर्शन प्रस्तुत किया है। कुछ इन्हें बुद्ध तो कुछ 'प्रेम का देवता' कहते हैं। दार्शनिक जगत् तो इनमें सर्वदृष्टि प्रहाणवादी नागार्जुन का आधुनिक रूप देखता है। औपनिवेशोत्तर काल में ओशो रजनीश जो अपने आप में भारत के 20वीं शताब्दी के क्रान्तिकारी चिन्तक रहे, उन्होंने कृष्णमूर्ति के चिन्तन से बहुत कुछ लिया है। कृष्णमूर्ति कोई 'एकाडेमिक फिलॉसफर' नहीं रहे बल्कि वे आत्मचेता बुद्ध पुरुष थे। उनके व्याख्यानों का संग्रह अपने आप में एक वाड्.मय है (18 भागों में मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित) लेकिन 'कॉमेन्टरिज ऑन लिविंग', 'फ्रीडम फ्राम नोन', फर्स्ट एण्ड लास्ट लिबरेशन' और 'यू आर द वर्ल्ड' इत्यादि में उनके मौलिक विचार व्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं।

के.सी. भट्टाचार्य के शिष्य एवं महात्मा गाँधी के अनुयायी धीरेन्द्र मोहनदत्त (1898–1974), जो पटना विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे, उनका भी नाम उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के कुछ विरले प्रामाणिक, प्रांजल और निर्दोष अध्येताओं में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। 'सिक्स वेज ऑफ नोविंग' (1932), 'द फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी' (1953) और 'चीफ करेण्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी' (1950) उनकी प्रसिद्ध और आज भी पठन–पाठन में सर्वाधिक उपयोग की जाने वाली पुस्तकें हैं। भाषा और उसमें निहित कोटियों का विश्लेषण–दार्शनिक मीमांसा की पूर्वापेच्छा है– यह उनकी कृतियों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इसी तरह बीते हुए कल से पहले के भारतीय दर्शन का लेखा–जोखा तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता (1885–1952) के द्वारा पाँच खण्डों में प्रकाशित 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' (1922) का उल्लेख न किया जाय। पारम्परिक भारतीय दर्शन को उसके समस्त गुण–सूत्रों के साथ जिस प्रगत रूप में उन्होंने दुनियाँ के सामने रखा है, इसके लिए भारत की भावी दार्शनिक पीढ़ी उनके प्रति सदैव ऋणी रहेगी। इसके अतिरिक्त उन्होंने योगदर्शन, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं भारतीय नीतिमीमांसा जैसे विषयों पर भी इदंप्रथमतया अत्यन्त प्रामाणिक लेखन किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

II

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा.1858 में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भारत को सद्यः अपने नियंत्रण में लिया और भारत में 'ब्रिटिश राज' की स्थापना हुई। इसके पश्चात् इस देश को 'राजनीतिक स्वराज' पाने में पूरे नौ दशक लगे। पं. जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व और कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के चलते स्वाधीन भारत में पंचशील की बौद्ध अवधारणा को एक राजनीतिक आयाम प्राप्त हुआ। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी इसे मुनासिब समझा और अपनी स्वीकृति दी, और वे 1956 में लाखों हिन्दुओं के साथ बौद्धधर्म स्वीकार कर इसके लिए एक मजबूत पृष्ठभूमि तैयार किये। इस तरह बौद्ध अध्ययन को इस देश में सरकारी तौर पर बढ़ावा मिला और बौद्धधर्म से सम्बन्धित इस देश के कुछ ऐतिहासिक स्थलों जैसे, सारनाथ, नालंदा और बोधगया को एक नया महत्त्व प्राप्त हुआ। तिब्बत से भोटियों के व्यापक निर्वासन के पश्चात् केन्द्र सरकार ने सारनाथ में केन्द्रीय तिब्बती उच्च अध्ययन संस्थान स्थापित किया। कारमापा एस. रिनपोछे इसके प्रथम निदेशक बने जो बाद में निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री भी हुए। उनके नेतृत्व में देश–विदेश के बौद्ध विद्वान् उस संस्थान से जुड़े और वहाँ से महायान बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बीते हुए कल और कतिपय आज भी सक्रिय बौद्ध विद्वानों में डॉ. हरीसिंह गौर (1870–1950, स्प्रिट ऑफ बुद्धिज़्म), भदन्त आनन्द कौशल्यायन, राहुल सांकृत्यायन, शान्ति भिक्षु शास्त्री (महायान), विश्वनाथ चटर्जी, आचार्य नरेन्द्रदेव (बौद्ध धर्म दर्शन), सत्कड़ी मुखर्जी (फिलॉसफी ऑफ यूनीवर्सल फ्लक्स), जी.सी. पाण्डे (बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास), आर.सी. पाण्डेय, के. वेंकटरमण, हर्षनारायण, ए.के. चटर्जी (योगाचार आईडियलिज़्म), जगन्नाथ उपाध्याय, महेश तिवारी, काशीनाथ उपाध्याय, रामशंकर त्रिपाठी (सौत्रान्तिक दर्शन), एन.एच. सान्तानी, एस.आर. भट्ट (बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी) इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

इस पहल के तत्काल बाद इस देश में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और अहिंसा के मूल्यबोध के साथ गाँधी अध्ययन को बहुत बढ़ावा मिला। अहमदाबाद स्थित गुजरात विद्यापीठ इसका प्रमुख अकादमिक केन्द्र बना। भारतीय विश्वविद्यालयों में गाँधी अध्ययन संस्थान, विभाग और केन्द्र खोले गये। सस्ता साहित्य मण्डल की दिल्ली में स्थापना हुई ताकि गाँधी साहित्य का व्यापक प्रचार–प्रसार हो सके। डॉ. रामजी सिंह (भागलपुर) और धर्मपाल (वर्धा), भीखू पारिख (गुजरात) और पार्थ चटर्जी (कलकत्ता) जैसे लोगों ने गाँधी दर्शन के उन्नयन हेतु अपना जीवन ही समर्पित किया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रष्टव्य है कि प्रो. डी.एम. दत्ता (1898–1974) ने 1950 में समकालीन भारतीय दर्शन के स्वरूप पर एक दृष्टिविदारक टिप्पणी किया था कि तथाकथित समकालीन भारतीय दर्शन या तो पाश्चात्य प्रभाव में की गई दार्शनिक पुनर्रचना है अथवा यह यूरोपीय दर्शन का एक विशिष्ट प्रकार से विस्तार है (चीफ करेन्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी– 1950, कलकत्ता)। हमारी दृष्टि में प्रो. दत्ता की यह टिप्पणी सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि अर्द्धसत्य है और इसीलिए स्वातन्त्र्योत्तर युग के दार्शनिक अध्ययवसाय में इसे अक्सर खारिज ही किया जाता रहा है।

द्रष्टव्य है कि 1925 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' की स्थापना हुई थी। यह दार्शनिकों का एक ऐसा संगठन है जो औपनिवेशिक युग से लेकर अब तक अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास के लिए सक्रिय रही है। 1950 में इस संस्था ने अपना रजत जयन्ती अधिवेशन 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' (अमलनेर) के तत्त्वावधान में आयोजित किया। इस अवसर पर एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विषय पर परिचर्चा आयोजित की गई। विषय था –'हैज श्री अरविन्द रेफ्यूटेड मायावाद'। इस परिचर्चा में उस समय के चार मूर्धन्य अध्येताओं ने भाग लिया (इन्द्रसेन, एन.ए. निकम, हरिदास चौधरी और जी.आर. मलकानी)। भारतीय दर्शन के भावी विकास की दृष्टि से इस परिचर्चा को एक 'पाथ ब्रेकिंग इवेन्ट' और इसमें प्रस्तुत किये गये शोध–पत्रों को स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के लिए 'न्यू टेस्टामेंट' जैसा कहा जा सकता है। इस परिचर्चा के सभी पत्रों को 'इण्डियन फिलॉसफी इन इंगलिश – फ्रॉम रेनांसां टू इण्डिपेन्डेन्स' (आक्सफोर्ड–2011) में संग्रहित किया गया है।

इन्द्रसेन (1903–1994) जो श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी से स्थायी रूप में सम्बद्ध रहे, उन्होंने अपने 'सिम्पोजियम पेपर' में यह दिखाया है कि श्री अरविन्द के लीलावाद में प्राचीन वेदान्त का मायावाद अपने आप सत्तावाद में रूपान्तरित हो जाता है, और इस तरह मायावाद श्री अरविन्द के दर्शन में अपने आप आपाततः खण्डित हो जाता है। श्री अरविन्द ने अपने 'लाईफ डिवाइन' (1949) में एक समग्र और मूर्त्त अद्वैत को उपस्थापित किया है जिसमें जड़ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) का एकान्वयन घटित होता है। 'अनन्त के तर्क' को आधार में रखते हुए उन्होंने स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है कि अतिमानस की विकासावस्था में सगुण और निर्गुण की एकता स्वयं अनुभूति के धरातल से प्रमाणित होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैसूर के प्रो. एन.ए. निकम (1903–1974) शंकर के विवर्त्तवाद और श्री अरविन्द के आविर्भाववाद में अन्तर करते हैं। उन्होंने श्री अरविन्द को उद्धृत किया है जहाँ वे 'मा' धातु से निष्पन्न माया का अर्थ मापन, परिच्छेदन और भ्रम अथवा धोखा के अर्थ में लेते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार वस्तुतः मायावाद में 'माया' शब्द दूसरे अर्थ अर्थात् भ्रम या धोखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रो. निकम अन्ततः इस बात को उद्घाटित करते हैं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन में और अद्वैत वेदान्त के मायावाद में मूलाविद्या की भूमिका एक ही जैसी है अर्थात् वह जागतिक नानात्व का हेतु है। इस तरह वास्तव में श्री अरविन्द के दर्शन में दो प्रकार के तर्क का ऐसा द्वैधिकरण है कि अन्ततः उनके दर्शन में मायावाद अनिराकृत ही रह जाता है।

हरिदास चौधरी (1913–1975, कलकत्ता) यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक गहन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ मायावाद के लिए अवकाश रहता ही है। अतः उसे अन्तिम रूप से निरस्त नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द का दर्शन वस्तुतः मायावाद के अतिक्रमण का, अज्ञान–प्रहाण का दर्शन है।

जी.आर. मलकानी (1892–1977) जो कि इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलासफ़ी – अमलनेर के स्थायी निदेशक थे और तर्कसम्मत अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक भी रहे, उन्होंने बेवाक शब्दों में प्रतिपादित किया है कि श्री अरविन्द मायावाद का खण्डन नहीं करते हैं। उनके अनुसार एकात्मक अनुभव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नहीं किया जा सकता। स्वयं शंकर के लिए और मलकानी के लिए भी सत्ता एक और अद्वैत ही है। तथाकथित अनन्त का तर्क अविरोध के नियम को निरस्त नहीं कर सकता। वस्तुतः मायावाद ही अद्वैतवाद के सर्वथा निर्दुष्ट और सुसंगत स्वरूप को प्रस्तुत करता है जहाँ किसी भी प्रकार के तत्त्वमीमांसीय द्वैत के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। देखा जाय तो मलकानी का यह बेवाक विरोध शंकर के अद्वैतवाद के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का परिचायक है। 'फिलासफ़ी ऑफ सेल्फ' (1939) और 'मेटाफिजिक्स ऑफ अद्वैत' (1961) जैसी कृतियों से उनकी यह निष्ठा प्रमाणित भी होती है।

यहाँ 1950 में आयोजित परिचर्चा को उद्धृत करने का प्रयोजन इतना ही दिखाना है कि भारतीय परम्परा में दर्शन का विकास 'वाद' प्रक्रिया के द्वारा होता रहा है और उसकी निरन्तरता आज भी आधुनिक पदावली और आधुनिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए कायम है। जिस तरह अरविन्द के दर्शन को सन्दर्भ बना कर स्वातन्त्र्योत्तर युग के इन चार दार्शनिकों ने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने–अपने पक्षों को रखा है उसे देख कर वेदान्त देशिक (1268–1369) कृत 'शत दूषणी' और 'अनन्त कृष्ण शास्त्री' (अव. 1946) कृत 'शत भूषणी' के बीच के वाद–प्रतिवाद का स्मरण में आना स्वाभाविक ही है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में श्री अरविन्द के दर्शन में न्यूनाधिक दखल रखने वाले विद्वानों में एस.के. मैत्रा (वाराणसी), आर.एस. मिश्र, (वाराणसी), मधुसूदन रेड्डी, उमेशचन्द्र दुबे, (वाराणसी) इत्यादि प्रमुख हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1893–1963) जिनका पूर्व नाम केदार पाण्डेय था, वे स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ऐसे बहुविज्ञ और बहुआयामी प्रतिभा के धनी व्यक्ति रहे कि उनके योगदानों को ज्ञान की किसी एक विधा में बाँधा नहीं जा सकता। वे जितने बड़े इतिहासज्ञ थे उतने ही बड़े भाषाविद् और पुरातत्त्ववेत्ता थे। दर्शन, साहित्य और संस्कृति विषयक उनके ज्ञान का तो कोई पारावार ही नहीं था। प्रतिकात्मक रूप से 'दर्शन–दिग्दर्शन' (1961) नामक उनकी एक कृति से उनके दार्शनिक अध्यवसाय का अन्दाजा लगाया जा सकता है। मध्य ऐशिया और तिब्बत की गुफाओं में जाकर उन्होंने बौद्ध दर्शन की पाण्डुलिपियों का जिस प्रतिबद्धता के साथ लाया और के.पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना का सहयोग पाकर उनका पुनरोद्धार किया, उसी के परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध दर्शन और बौद्ध न्याय को प्रगत अध्ययन की एक आधारभूमि प्राप्त हुई है।

मानवेन्द्रनाथ राय (1887–1954) जिनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था, वे भी राहुल सांकृत्यायन के समकालीन मौलिक मानववादी विचारक थे। मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और गरिमा के पोषक के रूप में एम.एन. राय 'रेडिकल ह्यूमेनिस्ट' नामक पत्रिका का सम्पादन करते हुए मानववादी चिन्तन का उन्होंने देशव्यापी प्रचार–प्रसार किया। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि कोई भी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब उसके मूल में एक सांस्कृतिक आन्दोलन की सक्रिय भूमिका हो। उनकी दृष्टि में नैतिकता पर आधारित प्रजातंत्र को ही सही अर्थों में लोकतंत्र कहा जा सकता है। 'रीजन, रोमान्टिसिज़्म एण्ड रेवोल्यूशन' (1952) एवं 'न्यू ह्यूमनिज़्म' (1961) उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं जिनमें उनके मौलिक विचार प्रखरता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं।

भारतीय दर्शन का औपनिवेशिक युग किस तरह स्वातन्त्र्योत्तर युग में रूपान्तरित होता है और इस नये युग में वह किस प्रकार का स्वरूप ग्रहण करता है, इसकी एक झलक हमें 'कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी' नामक ग्रन्थ के दूसरे परिवर्द्धित संस्करण में देखने को मिलती है। राधाकृष्ण और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

म्योरहेड ने इसका सम्पादन 1952 में किया था। यह ग्रन्थ स्वातन्त्र्यपूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा–दिशा को प्रस्तुत करने वाला एक पहलकारी प्राथमिक और प्रामाणिक प्रयास था। इसके प्रथम संस्करण में (1936) गाँधी, टैगोर, स्वामी अभेदानन्द, के.सी. भट्टाचार्य, जी.सी. चटर्जी, आनन्द कुमार स्वामी, भगवानदास, एस.एन. दासगुप्ता, हीरालाल हलधर, एम. हिरियन्ना, एस. राधाकृष्णन्, आर.डी. राणाडे, बी. सुब्रह्मन्यम् अय्यर और आर. वाडिया जैसे दार्शनिकों के आलेख सम्मिलित किये गये थे। इसका जब दूसरा परिवर्द्धित संस्करण निकला (1952) तो उसमें ग्यारह दार्शनिकों के और आलेख सम्मिलित किये गये। वे हैं – हरिदास भट्टाचार्य, एन.जी. डम्ले, रासबिहारी दास, डी.एम. दत्ता, हुमाँयू कबीर, एस.के. मैत्रा, जी. आर. मलकानी, ए.सी. मुखर्जी, टी.आर.वी. मूर्ति, पी.टी. राजू और एम.एम. शरीफ। द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थ के दोनों भागों में जिन दार्शनिकों के आलेखों को तत्कालीन दार्शनिक अध्यवसाय के नमूने के तौर पर प्रस्तुत करने के लिए सम्मिलित किया गया, उसे दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में वैसे आलेख आते हैं ज़िन्हें उन दार्शनिकों ने वैदिक परम्परा के दर्शनों की अपने आजीवन अध्यवसाय के आधार पर तद्विषयक अपनी समझ को प्रस्तुत किया है। दूसरे वर्ग के आलेखों में अन्तर्वस्तु तो परम्परागत भारतीय दर्शनों से ही ली गई है लेकिन उनकी व्याख्या, विश्लेषण और तुलना पाश्चात्य दर्शन और उसकी आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में की गई है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि एक समय भारतीय विद्वानों के दार्शनिक अध्यवसाय में तुलनात्मक दर्शन को चरितार्थ करने की प्रवृत्ति इस तरह हावी हो गई थी कि ऐसा करना दार्शनिक अध्यवसाय का पर्याय बन गया था। लेकिन कुछ ही भारतीय विद्वानो के हाथों यह उचित रूप में क्रियान्वित किया गया और उनके तुलनात्मक प्रयास से भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के बीच की अन्तःपदीय समझदारी बढ़ी परन्तु अधिकांश के द्वारा किये गये तुलनात्मक प्रयासों से भारतीय दर्शन उन्मीलित न होकर अन्ततः उन्मूलित ही हुआ है। हमारे देश के दार्शनिकों का पाश्चात्य दर्शन विषयक समृद्ध ज्ञान यदि भारतीय दर्शन के उन्नयन में फलित न हो कर अपनी ही परम्परा के प्रति हीन भावना पैदा करने में सहायक हो तो ऐसे दार्शनिक अध्यवसाय को विकास नहीं विकार ही कहा जायेगा।

इस प्रसंग में यहाँ हम अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना को भी संज्ञान में लेना आवश्यक समझते हैं। यह परिषद् वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक नया और महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसकी स्थापना के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पीछे कई एक महत्त्वपूर्ण लोग रहे लेकिन उनमें स्थापकीय महत्त्वपूर्ण भूमिका श्री यशदेव शल्य की रही। द्रष्टव्य है कि 'हिन्दी' एक भाषा के रूप में नहीं बल्कि जातीय–स्मृति और सांस्कृतिक मूल्यबोध के साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्राणदा शक्ति भी थी। इसी व्यापक उद्देश्य को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भाषीय राजपथ पर चलते हुए वैचारिक स्वराज और भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने के संकल्प के साथ इस परिषद् की स्थापना हुई थी। इस परिषद् के मुखपत्र के रूप में 'दार्शनिक त्रैमासिक' पत्रिका का परिषद् की स्थापना के साथ ही 1954 से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और परिषद् का प्रथम वार्षिक अधिवेशन 1956 में इलाहाबाद में हुआ। यह परिषद् आज भी अपने आत्मचेतन संकल्प के साथ अपने उद्देश्य पथ पर अग्रसरित है। हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दार्शनिक अध्यवसाय को प्रतिनिधित्व देते हुए परिषद् ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है जिसमें के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति द्वारा 'समकालीन भारतीय दर्शन' (1962) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राधाकृष्णन् और म्योरहेड के ही तर्ज पर इस पुस्तक में सम्पूर्णानन्द, एन.एस. द्राविड़, बी.जी. तिवारी, एस.एल. पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, आर.के. त्रिपाठी, एस.एस. बारलिंगे, जे.आर.एल.एस. नारायण मूर्त्ति, चन्द्रशेखर राय और के.एस. मूर्त्ति के आलेख सम्मिलित किये गये थे।

इसी क्रम में परिषद् के तत्त्वावधान में 'स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण' के अन्तर्गत अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित 'समेकित दार्शनिक विमर्श' (2005), 'समेकित अद्वैत विमर्श' (2005), 'भारतीय दर्शन के 50 वर्ष' (2006) और 'समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा' (2012) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये चारों ग्रन्थ वैचारिक स्वराज के भाषीय राजपथ पर हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय की यदि सम्पूर्ण प्रतिमा नहीं तो उसकी आवक्ष प्रतिमा अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में दर्शनशास्त्र को प्रोन्नत करने के लिए सरकारी तौर पर यद्यपि छोटे–बड़े अनेकों प्रयास किये गये लेकिन 1964 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा दर्शन के तीन उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्रों (वाराणसी, मद्रास और विश्वभारती) की स्थापना बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम था। इन केन्द्रों के द्वारा संचालित अकादमिक उपक्रमों एवं प्रकाशनों से इस देश के दार्शनिक वातावरण को एक गति मिली। इसी दौरान केन्द्र सरकार की पहल पर मानविकी और सामाजिक विज्ञानों को बढ़ावा देने के लिए 1965 में राष्ट्रपति निवास, शिमला को 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी' के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप में स्थापित किया गया। इस संस्थान ने भी दर्शन के विकास को सदैव बढ़ावा दिया है। यहाँ से प्रकाशित कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उस संस्थान की दार्शनिक निष्ठा को बखूबी प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त विवरण में प्रायः हम स्वतन्त्रता के पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशित कार्यों को ही सन्दर्भित किये हैं परन्तु इस काल में कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं जो प्रकाशित नहीं हैं। ऐसे कार्यों में अधिकांशतः विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के स्वत्वाधिकार में हुए पी–एच्. डी. शोध–प्रबन्धों को रखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि 1974 में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा 'इण्डेक्स टू डिजरटेशन्स इन फिलॉसफी' प्रकाशित किया गया था जिसमें 1135 शोध–प्रबन्धों को सूचीबद्ध किया गया है। पुनः पुणे विश्वविद्यालय द्वारा प्रो० एस.एस. बारलिंगे के नेतृत्व में 'ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ कम्प्लीटेड रिसर्च वर्क इन फिलॉसफी इन इण्डियन यूनीवर्सिटीज़' प्रकाशित किया गया जिसमें लगभग 50 विश्वविद्यालयों में 1980 तक हुए शोध–कार्यों को सन्दर्भित किया गया है। इसी प्रकार की प्रेरणा और व्यापक उद्देश्य के साथ डॉ. सुशीम दुबे ने एक बड़ा सर्वेक्षण 2013 में दो भागों में प्रकाशित किया है। इसमें पहला भाग 'हिस्ट्री डेवलपमेंट एण्ड स्टैटस ऑफ फिलॉसाफी इन इण्डियन युनिवर्सिटीज' पर केन्द्रित है और दूसरा भाग 'डॉक्टोरल रिसर्चेज इन इण्डियन युनिवर्सिटीज' से सम्बन्धित है। इन दोनों पुस्तकों का प्रकाशन 'आन्वीक्षिकी प्रकाशन, नई दिल्ली' से 2013 में हुआ है। ये दोनों ग्रंथ भारत में विश्वविद्यालयीय व्यवस्था के माध्यम से दर्शन शास्त्र के संस्थागत स्थिति और शोधों के ह्रास–विकास का एक विहंगम चित्र प्रस्तुत करते हैं।

III

इस परिच्छेद में हम स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय को संकेतित करने के लिए वैसे अध्येताओं की पहल और योगदानों को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे जिनका चिन्तन बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण के आस–पास तक एक स्वरूप ग्रहण कर चुका था। इस काल खण्ड का विस्तार 21वीं शताब्दी के इस प्रथम दशक तक कर लेना भी उचित ही होगा ताकि साम्प्रतिक रूप से कुछ नवोदित अध्येताओं को भी सन्दर्भित किया जा सके। आइए हम एक दूरदर्शी शिक्षक (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) प्रो. टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902–1986) से ही इस परिच्छेद का आरम्भ करते हैं।

प्रो. टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902–1986) अपने समय के सर्वथा प्रामाणिक और परिनिष्ठित अध्येता थे। उनकी अध्येतृता को परम्परा और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिकता, पूरब और पश्चिम का सेतुबन्ध कहा जा सकता है। उनकी विशेष अभिरुचि माध्यमिक दर्शन, काण्ट और भाषा दर्शन में रही, लेकिन अपने दार्शनिक अध्यवसाय को उन्होंने माध्यमिक दर्शन की पुनर्रचना, उसकी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ, करने में चरितार्थ किया है। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म' के माध्यम से दार्शानिक विचारों के विश्व इतिहास में नागार्जुन को उसकी सम्पूर्ण प्रभावमत्ता और मूलगामिता के साथ प्रतिष्ठा मिली है। प्रो. मूर्त्ति के लिए माध्यमिक दर्शन का आन्तरिक मूल्य बौद्ध दर्शन के एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं बल्कि 'क्रिटिक ऑफ ऑल फिलॉसफीज़' के रूप में है। माध्यमिक दर्शन की ऐसी व्याख्या पर यह आरोप भी लगाया गया कि प्रो. मूर्त्ति ने अद्वैत वेदान्त की छाया में माध्यमिक दर्शन को पुनर्रचित किया है। यह आरोप यदि सही भी हो तो भी प्रो. मूर्त्ति की व्याख्या अपने आप में आद्यन्त रूप से सुसंगत और पूरी दुनियाँ में अपने बल पर अकेले खड़ा है। 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म' के प्रकाशित होने के पश्चात् बौद्ध अध्येतृता का विश्व–समुदाय विरोध या समर्थन में प्रो. मूर्त्ति की अनदेखी नहीं कर सका।

वैसे तो प्रो. मूर्त्ति ने काण्ट के दर्शन को लक्ष्य करके कुछ नहीं लिखा है लेकिन 'अज्ञान' नामक पुस्तक (1933) जो जी.आर. मलकानी और रासबिहारी दास के साथ मिलकर लिखा गया था, उसमें अद्वैत वेदान्त सम्मत अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए उन पर काण्ट के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रो. मूर्त्ति ने दर्शन की आधुनिक पदावली में अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए यह दिखाया है कि "अज्ञान विषयक दार्शनिक अन्वीक्षा वास्तव में कुछ नहीं बल्कि ज्ञान के प्रागनुभविक स्थितियों और हेतुओं की खोज है।" (अज्ञान, पृ. 122, लुजेक एण्ड कम्पनी, लंदन, 1932)

इसी तरह अद्वैतवादी दर्शनों के अनन्तर्भाव्य वैकल्पिक प्रारूपों की गवेषणा भी प्रो. मूर्त्ति के दार्शनिक अध्यवसाय का महत्त्वपूर्ण बिन्दू रहा है। यद्यपि इसकी शुरूआत के.सी. भट्टाचार्य से होती है लेकिन उनकी इस अन्तर्दृष्टि को अपने में स्वायत्त कर प्रो. मूर्त्ति ने अपने लेख 'नोविंग, विलिंग एण्ड फिलिंग एज़ फंक्शन्स ऑफ कॉन्शसनेस' (1934) एवं अन्य प्रकीर्ण लेखनों के माध्यम से जिस तरह आगे बढ़ाया है उसे पाश्चात्य परम्परा की फैकल्टी साइकोलॉजी की आलोचना से उपजा अद्वैतवादी दर्शनों की मूलगामी समझ के प्रति एक मौलिक और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है। इस दार्शनिक पुरर्रचना के सम्पूर्ण विकास को समझने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिए अम्बिका दत्त शर्मा का आलेख "अद्वैतवादी दर्शनों का प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य : एक समसामयिक विमर्श" (उन्मीलन – वर्ष 26 अंक 1– जनवरी 2012) बहुत उपयोगी है।

भाषा दर्शन के क्षेत्र में प्रो. मूर्त्ति ने बहुत कुछ नहीं लिखा है लेकिन उनका एक ही आलेख जो कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कॉग्रेस' (1963) में दिया गया अध्यक्षीय भाषण था (एस.पी. दुबे, फैसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी, भाग 3) वही उन्हें एक भविष्णु भाषा दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रो. मूर्त्ति के अनुसार भाषा का दर्शन वास्तव में दर्शनशास्त्र की एक शाखा ही नहीं बल्कि अपने आप में सम्पूर्ण दर्शन है और भारतीय चिन्तन में बहुत कुछ ऐसा है जिसके द्वारा वैश्वीय भाषा दार्शनिक चिन्तन को वह अपना मौलिक योगदान कर सकता है। उनका यह व्याख्यान प्रकाशित होने के पश्चात् भारतीय भाषा दार्शनिक अध्यवसाय के लिए 'पाथ ब्रेकिंग' सिद्ध हुआ और इसके द्वारा भाषा दर्शन के क्षेत्र में भारतीय दृष्टि से कार्य करने की एक जबरदस्त उत्प्रेरणा पैदा हुई। इसके अतिरिक्त प्रो. मूर्त्ति के सम्पूर्ण लेखन में 'दी फिलॉसफी ऑफ स्पिरिट' (राधाकृष्णन् और म्योरहेड द्वारा सम्पा. 'दी कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी' के दूसरे भाग में संग्रहित) एवं 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी' (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दर्शन सीरीज़ में प्रकाशित 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी') को उनकी 'निज दार्शनिक निष्ठा' का परिचायक लेखन कहा जा सकता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तंत्रबद्धता और पूर्वपक्ष के प्रति विवेकसम्मत सहिष्णुता रही है। आरम्भ से ही यहाँ दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व रहा है जो अपने कुछ आधारभूत मान्यताओं के साथ विकास के स्वकीय प्रारूप में विकसित होते रहे हैं। भारतीय दार्शानिक सम्प्रदायों की इस बहुध्रुवीय एवं तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका, टिप्पणी एवं प्रकरण इत्यादि अन्यान्य प्रकार के ग्रन्थों के माध्यम से अविच्छिन्न रूप में विकासमान रही है। गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम से भारतीय दर्शनों की यह प्रवर्द्धमानता प्राचीन काल में जैसी जीवन्त रही, वैसे ही आज भी न्यूनाधिक रूप में जीवन्त बनी हुई है। आज भी भारत में ऐसे आचार्यकुल हैं जो वंशानुगत रूप से किसी विद्या–स्थान का आजीवन अभ्यास अपने जीवन का सर्वोपरि कर्त्तव्य समझते हैं। परन्तु इसे एक विडम्बना ही कही जायेगी कि आधुनिक मनोवृत्ति के लोग जब भारतीय दार्शनिकों के विषय में बातें करते हैं तो उनके मन में प्रथमतया किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतिमा उभरती है जो पाश्चात्य दर्शन में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अच्छी पैठ रखता हो। वैसे व्यक्तियों को भारतीय दार्शनिक का दर्जा नहीं दिया जाता जो विभिन्न भारतीय विधाओं का परम्परागत तरीके से अध्ययन करते हैं और आजीवन किसी विद्या–विशेष का वाचिक एवं लिखित रूप से अभ्यास करते हुए उसके स्वकीय विकास की निरन्तरता को बनाये हुए हैं। अवधेय है कि किसी विचार परम्परा में परिष्कार, परिवर्द्धन और यहाँ तक कि रूपान्तरण यदि वास्तव में स्वकीय परम्परा में ही घटित होकर सार्थक होता है तो भारतीय विद्याओं के पारम्परिक अभ्यासकों को उन अध्येताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए जो भारतीय दर्शनों के मूल स्रोतों से अवगत हुए बिना ही भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करने का दावा करते हैं। यहाँ प्रसंगवश हम एक ऐसे ही पारम्परिक अध्येता के मौलिक अध्यवसाय को तनिक विस्तार से रेखांकित करने का प्रसाय करेंगे।

बदरीनाथ शुक्ल (1898–1988) काशी की पाण्डित्य परम्परा में आन्वीक्षिकी विद्या के ऐसे ही अनन्य उपासक थे, जिन्होंने आजीवन प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय का अध्ययन–अध्यापन करते हुए न्यायशास्त्र का देशव्यापी प्रचार–प्रसार किया। अपने अध्यवसायी जीवन के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसी स्थापनायें भी कीं, जिससे न्याय दर्शन को एक नई दिया प्राप्त हुई है। परम्परा से प्राप्त विधा की अहर्निश उपासना को अपना स्वधर्म समझने वाले ऐसे आचार्यों का जीवन इतना सरल और सादगीपूर्ण हुआ करता है कि उनके जीवन में उल्लेखनीय ऐतिहासिक सन्दर्भ भी अत्यल्प ही निर्मित होते हैं। बदरीनाथ शुक्ल की आरम्भिक शिक्षा–दीक्षा काशी में ही परम्परागत ढंग से हुई भी। शास्त्री एवं न्यायाचार्य की उपाधि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की थी। महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र (1887–1943) के अन्तेवासी होकर उन्होंने प्राचीन न्याय एवं नव्यन्याय में असाधारण अधिकार प्राप्त किया था। उनका सम्पूर्ण अध्यापकीय जीवन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सम्बद्ध होकर ही व्यतीत हुआ। इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। केशव मिश्र प्रणीत 'तर्कभाषा', सदानन्द यति कृत 'वेदान्तसार' और 'व्याप्ति पंचक' जैसे ग्रन्थों पर उन्होंने हिन्दी में व्याख्या लिखी। गंगेशोपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ के 'विधिवाद प्रकरण' पर उनकी संस्कृत टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। जैन न्याय के क्षेत्र में 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' नामक ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या और 'खण्डन खण्ड खाद्य' का सफल सम्पादन भी उन्होंने किया था। 'आरम्भवादः' एवं 'शतश्लोकी' उनकी दो मौलिक कृतियाँ हैं। 'आरम्भवादः' में उन्होंने न्यायदर्शन सम्मत कार्य–कारण सिद्धान्त की उपस्थापना मौलिक रीति से की है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'शतश्लोकी' का प्रतिपाद्य विषय न्यायदर्शन में मुक्ति का स्वरूप है। अवधेय है कि श्रीहर्ष ने न्यायसम्मत मुक्ति को शिलावत चेतनाशून्य प्रतिपादित किया था। वस्तुतः इसी प्रकार की आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में 'शतश्लोकी' एक ऐसा प्रबन्ध है जो न्यायसम्मत मुक्ति की अवस्था की सुखरूपता का प्रतिपादन करता है। बदरीनाथ शुक्ल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'न्यायशास्त्रीय विचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना' है जो अपनी प्रकृति में एक निबन्ध अथवा लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ जैसा है। यह उनकी एक ऐसी विचारोत्तेजक कृति है जो उन्हें 'अभिनव देहात्मवाद' के उपस्थापक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित करती है।

द्रष्टव्य है कि आत्मवाद एवं अनात्मवाद भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धारायें रही हैं। दोनों धाराओं की तत्त्वदृष्टि एक–दूसरे के विरोध में सत्ता को क्रमशः नित्यतावादी और क्षणिकवादी प्रमिमान में देखती है। वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शन आत्मवादी तत्त्वदृष्टि का ही अपने–अपने तरीके से प्रतिनिधित्व करते हैं। उन सबों की ज्ञानमीमांसा, नीतिदर्शन और आध्यात्मिक साधनायें आत्मवादी दृष्टि में ही मूलित हैं। अतः इन्द्रियात्मवाद, शरीरात्मवाद, प्राणात्मवाद जैसे विचारों के सन्दर्भ पूर्वपक्ष के रूप में तो भारतीय परम्परा में सदैव उपस्थित होते रहे हैं लेकिन ऐसे सिद्धान्तों की तात्त्विक स्वायत्तता को कभी पुरस्कृत नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में बदरीनाथ शुक्ल का 'देहात्मवाद' जो अपने स्वरूप में लोकायतिक भी नहीं है, निश्चय ही एक क्रान्तिकारी प्रतिपादन है। यद्यपि उन्होंने इसे न्यायदर्शन सम्मत आत्मवादी अवधारणा में परिष्कार के बतौर प्रस्तावित किया है तथापि उनका यह प्रतिपादन अपनी व्याप्ति में समस्त आत्मवादी दर्शनों के समक्ष एक वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में खड़ा होता प्रतीत होता है। न्याय–वैशेषिक सम्मत आत्मा की अवधारणा का सार यह है कि आत्मा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक् और मन से भिन्न नवम् द्रव्य है। यह आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है और वह शरीर, इन्द्रिय, मन तथा प्राण से भी भिन्न है। वह सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होता है तथा वह कर्त्ता एवं भोक्ता है। सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर भी जिस देह के साथ उसका अपूर्व–अर्जित अदृष्ट के कारण विलक्षण संयोग रूप भोगनियामक सम्बन्ध स्थापित होता है उसी देह से पूर्वकर्मों के ऊँच–नीच, सुख–दुःखात्मक फलों को भोगता है, तथा नये–नये कर्मों को करते हुए पुण्य–पाप रूप धर्माधर्मों से अपने कोश में वृद्धि करता रहता है। नये–नये अनुभव से प्राप्त संस्कार की राशि में भी वृद्धि करता रहता है। सभी प्रकार के किया–कलापों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके अदृष्ट से आकृष्ट मन उसकी सहायता करता है। ऐसे जीवात्मा पद वाच्य 'आत्मा' को न्याय–वैशेषिक दर्शन में ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, सुख, दुःख इन नौ विशेष तथा संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग इन पाँच सामान्य गुणों का आश्रय माना गया है।

अब बदरीनाथ शुक्ल की प्रतिज्ञा है कि –"आत्मा नातिरिक्त द्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिल प्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्"– अर्थात् आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मा के द्वारा जो भी साधनीय प्रयोजन हैं, वे सब कुछ देह और मन के द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते हैं। अपनी इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अतिरिक्त आत्म–द्रव्य विषयक न्यायवैशेषिक मान्यता में जो परिवर्तन किया है वह यह कि परम्परागत न्यायवैशेषिक मान्यता में जहाँ ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि को आत्मा का विशेष गुण माना गया है, वहीं इन्होंने इन सभी गुणों को देह के विशेष गुण नहीं बल्कि सामान्य गुण के रूप में रूपान्तरित कर दिया है। पुनः धर्म, अधर्म एवं संस्कार को वे मन के विशेष गुण मानने की अभ्युक्ति प्रस्तुत करते हैं। इस सैद्धान्तिक परिवर्तन के विरोध में जितनी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, उन सब का परिहार करते हुए उन्होंने अपने इस नवीन अभिमत की संगति भी बैठाई है। इसका परिणाम यह होता है कि सभी भूमिकाओं को अवाप्त करते हुए 'मनयुक्तदेह' देहातिरिक्त आत्म द्रव्य का स्थानीय हो जाता है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञानादि को देह का गुण मानने में अनेक दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतः यहाँ यह देखना प्रासंगिक होगा कि बदरीनाथ शुक्ल उन दोषों का परिहार करते हुए किस प्रकार अपने देहात्मवाद से उसकी संगति बैठाते हैं। प्रथमतः यह कि शरीर ज्ञानादि का आश्रय होता तो मृत शरीर को चैतन्य होना चाहिए। इस व्यभिचार दोष का देहात्मवादी प्रत्युत्तर यह है कि मन में धर्म एवं अदृष्ट रहते हैं, परन्तु मरणकाल में शरीर के साथ मन के सम्बन्ध का विनाश हो जाता है। अतः मृत शरीर में चैतन्य का अनुभव नहीं होता। वस्तुतः अतिरिक्त आत्मा को मानने वाले भी इस दोष का परिहार इसी रूप में करते हैं। द्वितीयतः यह कि शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यकाल में जो विलोकित है, वार्धक्य काल में उसके स्मरण की अनुपपत्ति होगी। इस अनुपपत्ति का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि अनुभवात्मक ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है, परन्तु उस ज्ञान से जन्य संस्कार मन में उत्पन्न होता है। अतः मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में अनुभूत हुए का वृद्धावस्था में स्मरण सम्भव है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तृतीयतः यह कि सद्यः समुत्पन्न बालक में स्तनपान की प्रवृत्ति के लिए इष्टसाधनता का ज्ञान आवश्यक है। शरीरातिरिक्त आत्मा को चैतन्य मानकर तथा पूर्वजन्म के आधार पर ही इत्याकारक इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। देहात्मवादी पक्ष से इस आपत्ति का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि अनुभव का संस्कार के प्रति और संस्कार का स्मरण के प्रति 'स्वाश्रयविजातीय–संयोगसम्बन्ध' से कारणत्व है। पुनः पूर्वजन्म के शरीर का सहयोगी जो मन है, उस मन का पूर्वजन्म के शरीर से जन्य अदृष्ट के कारण सद्योजात बालशरीर में भी प्रवेश हो जाता है। इस कारण पूर्वजन्मानुभूत अर्थ का स्मरण होकर इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। अतः देहात्मवादी दृष्टि से भी नवजात शिशु में स्तनपान की प्रवृत्ति की व्याख्या हो जाती है। चतुर्थतः यह कि ज्ञानादि को देह का गुण मानने पर कृतहान और अकृताभ्यागम की आपत्ति आयेगी, क्योंकि जिस शरीर के द्वारा पाप–पुण्य किये गये हैं, उसके द्वारा उस पाप–पुण्य का फलभोग देहात्मवाद में सम्भव नहीं होगा। इस आक्षेप का परिहार करते हुए बदरीनाथ शुक्ल की अभ्युक्ति यह है कि वर्तमान शरीर द्वारा किये गये जिन कर्मों का फल अभी तक भोगा नहीं गया है, उन कर्मों के द्वारा उत्पन्न धर्म और अधर्म रूपी अदृष्ट का आश्रय जो मन है, वही मन उन कर्मों का अधिष्ठाता है और उस मन का पूर्वजन्मकृत कर्मों से जन्य अदृष्ट द्वारा उत्पादित शरीर में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार से उस शरीर में उन कर्मों का फलभोग और उन कर्मों की सार्थकता दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। पुनः यह भी द्रष्टव्य है कि नूतन शरीर में भी पूर्वदेह के द्वारा कृत कर्मों का ही फल प्राप्त होता है, अतएव अकृताभ्यागम का भी प्रसंग नहीं उठता। इसके अतिरिक्त बदरीनाथ शुक्ल एक दूसरी अभ्युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि देहात्मवाद में यह नियम मानना आवश्यक नहीं कि जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उसको ही प्राप्त होना चाहिए। इसके स्थान पर यह नियम मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जिस मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से कर्म किया जाता है, उसका फल उसी मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से भोगा जाता है (तत्स्थाने यन्मनोधिष्ठितेन देहेन यत्कर्म क्रियते तत्फलं तन्मनोधिष्ठितेनैव देहेन भुज्यत इति नियमोपगमात्)।

इस प्रकार शरीरातिरिक्त आत्मवाद के बदले देहात्मवाद को मानने से जो भी तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय कठिनाईयाँ आ सकती हैं, उन सभी का परिहार करते हुए बदरीनाथ शुक्ल ने अपने 'देहात्मवाद' को ज्ञानाश्रयी और ज्ञानस्वरूप दोनों ही प्रकार के अतिरिक्त आत्मवाद के समानान्तर एक बेहतर विकल्प के रूप में स्थापित किया है। इस अभिनव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देहात्मवाद को सन्दर्भ बनाकर उन्होंने कर्म, पुनर्जन्म, संसार, अनुभव, स्मृति, संस्कार, प्रत्यभिज्ञा, यज्ञ–यज्ञादि, लोकसंग्रह एवं बन्धन–मोक्ष आदि की भी सुसंगत व्याख्या की है। यह वैसा देहात्मवाद भी नहीं है जो चार्वाक की तरह मनुष्य को संस्कृति–भ्रष्ट बनाता हो। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह भारतीय संस्कृति की मूल्य–व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए उसके कतिपय खामियों को दूर करने का सैद्धान्तिक आधार भी प्रस्तुत करता है। द्रष्टव्य है कि अतिरिक्त आत्मवाद में प्राणी अपने पूर्वोर्जित कर्म से उत्पन्न अदृष्ट के अधीन होने से स्वस्थिति–परिवर्तन में उसकी स्वतंत्रता नहीं होती और इस कारण अपने अभिशप्त वर्तमान और दूसरों के द्वारा किये जा रहे शोषण–उत्पीड़न को उसे मौन भाव से सहना पड़ता है। उसमें सामाजिक–आर्थिक विषमता को दूर करने तथा इस विषमता के प्रति उदासीन रहने वाले शासन तंत्र के उन्मूलन की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। परन्तु बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद एक ऐसा समाज दर्शन प्रस्तुत करता है जिसमें मनुष्य के लिए यह बोध सक्रिय रूप से कार्य करता है कि उसका पूर्वकृत कर्म कुछ भी नहीं, जिसके कारण वह दूसरों के द्वारा किये जाने वाले शोषण, उत्पीड़न के प्रति और अपनी वर्तमान दलितावस्था को कर्मफल मानकर निष्क्रिय बना रहे। अतः देहात्मवादी समाज दर्शन के द्वारा व्यक्ति अपनी परिस्थिति को बदलने में स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है और इस प्रकार न्यायपूर्ण, परस्पर हितावह सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को निर्मित कर सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकता है।

यहाँ के.एम. पणीक्कर (दी फाउण्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया – 1963) की उस टिप्पणी का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है, जहाँ वे कहते हैं कि भारतीय विश्वविद्यालयों से कोई ऐसा दार्शनिक पैदा नहीं हुआ जिसने परम्परागत चिन्तन अथवा आधुनिक चिन्तन–प्रक्रिया में कोई विशिष्ट योगदान किया हो। वास्तव में गतानुगतिक रूप से ऐसी टिप्पणी करते हुए यह सम्भव है कि पणीक्कर साहब साम्प्रतिक दार्शनिक अध्येतृता से पूरे तौर से परिचित न रहे हों। प्रो. मूर्त्ति का तो केवल एक शोध–पत्र तथा बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद उनकी टिप्पणी को खारिज करने के लिए पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में हुमायूँ कबीर (1906–1969) के विश्वोन्मुखी चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में परम्परा और नवोन्मेषी प्रगतिशीलता के मध्य सामंजस्य की स्थापना के उनके प्रयासों की अनदेखी कैसे की जा सकती है। इतना ही नहीं, पणीक्कर साहब अपने ही आस–पास पी.टी. राजू (1903–1993) के दार्शनिक अध्यवसाय का आकलन नहीं कर सके। अपने समय में पी.टी. राजू पारम्परिक भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक चिन्तन की आधुनिकोन्मुखी व्याख्या करने वालों में अग्रणी थे। इस प्रकार की व्याख्या का मानक रूप 'आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ इण्डिया' (1953), 'थॉट एण्ड रियलिटी' (1957) और 'इण्डियन आइडियलिज़्म एण्ड मॉडर्न चैलेंजेज़'(1961) नामक कृतियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पी.टी. राजू को 'तुलनात्मक दर्शन' की स्वतन्त्र विधा के प्रणेता रूप कुछ इने–गिने व्यक्तियों में परिगणित किया जा सकता है। उनकी 'इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसफी' (1962) इस विधा की प्राथमिक संस्थापक कृतियों में एक है।

इन्हीं दिनों में कालीदास भट्टाचार्य (1911–1984) एक विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा वाले अपने ढंग के बिलकुल अलग प्रकार के अध्येता थे। इनकी दार्शनिक चेतना किसी वाद या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध न होकर इस अर्थ में स्वतन्त्र थी कि उन्होंने मनुष्य की चेतना में निहित वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों की वैकल्पिकता का दार्शनिकीकरण करते हुए एक तरह से उसकी ही तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है। इसका बीज उन्हें अपने पिता कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के 'एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइन्ट' में प्राप्त हुआ था लेकिन उसे इन्होंने 'अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइन्ट इन फिलॉसफी' के रूप में विकसित किया है। कालीदास भट्टाचार्य के सम्पूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय को मनुष्य के वैकल्पिक दार्शनिक अभिनिवेश का भाष्य और उनके दर्शन को 'वैकल्पिक दार्शनिकता का तर्कशास्त्र' कहा जा सकता है। अपने इस दार्शनिक अभिगम को उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र–तत्र अद्वैत वेदान्त, माध्यमिक दर्शन और जैन दर्शन के अनेकान्तवाद पर जिस तरह से लागू किया है उसे एक सर्वथा मौलिक और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है। मनुष्य के स्वरूप, स्वतन्त्रता और उसकी धार्मिक, वैज्ञानिक चेतना के सम्बन्ध में भी उन्होंने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। कालीदास भट्टाचार्य की बहुविध रचनाओं में – अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइन्ट इन फिलॉसफी (1953), प्रीसपोजिसन ऑफ साइन्स एण्ड फिलॉसफी एण्ड अदर एस्सेज (1974), पॉसिबिलिटी ऑफ डिफरेन्ट टाइप्स ऑफ रेलिजन (1975), दी इण्डियन कॉन्सेप्ट ऑफ मैन (1982) तथा बंगला में 'भारतीय संस्कृति ओ अनेकान्त वेदान्त (1982) प्रमुखतम हैं।

पारम्परिक भारतीय दर्शन के क्षेत्र में के.एम. पणीक्कर की टिप्पणियों को झुठलाने के लिए टी.एम.पी. महादेवन के दार्शनिक अध्यवसाय को भी सन्दर्भित किया जा सकता है। महादेवन (1911–1983) वेदान्त दर्शन के अत्यन्त पारंगत और निष्ठावान् अध्येता थे। आधुनिक युग में उन्हें 'मद्रास

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्कूल ऑफ वेदान्त स्टडीज़' के संस्थापक आचार्य से महिमामण्डित किया जा सकता है। 'गौड़पादः ए स्टडी इन अर्ली अद्वैत' (1954) के माध्यम से उन्होंने पं. विधुशेखर भट्टाचार्य सरीखे व्यक्तियों द्वारा फैलाई गई इस भ्रान्ति का भाजन किया है कि शंकराचार्य के दादागुरू गौडपाद ने मौटे तौर पर सब कुछ नागार्जुन की माध्यमिक कारिका से ले लिया है। उन्होंने हरमेन्युटिक्स और फिलोलॉजी की पद्धति से यह दिखाया है कि गौडपाद द्वारा प्रयुक्त पदावलियाँ बौद्ध परम्परा की एकल सम्पत्ति नहीं बल्कि परम्परा की सम्पदा हैं जिस पर किसी का एकाधिकार नहीं। 'दी फिलॉसफी ऑफ अद्वैत' (1957), 'आउट लाइन्स ऑफ हिन्दूइज़्म' (1956) और 'टाइम एण्ड टाइमलेस' इत्यादि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त 'दी बिल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सीरीज़' (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) के अन्तर्गत टी.एम.पी. महादेवन पर केन्द्रित आर. बालसुब्रह्मण्यम् की पुस्तक उनके परम्परिक दार्शनिक अध्यवसाय को बखूबी उद्घाटित करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में नन्द किशोर देवराज (1917–1999) एक ऐसे सशक्त चिन्तक रहे हैं जिन्होंने अपने दार्शनिक अध्यवसाय को आजीवन मानववादी चिन्तन को समर्पित किया था। मनुष्य के आत्मचेतन उत्पाद होने में निहित उसकी स्वतन्त्रता, तर–तम–भाव और मूल्योन्वेषी प्रकृति को आधारभूत मानकर उन्होंने जिस प्रकार के मानववादी चिन्तन को उद्घाटित किया है उसे 'सर्जनात्मक मानववाद' से अभिहित किया जाता है। देवराज का सर्जनात्मक मानववाद एक ओर मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के तत्त्वमीमांसीय लंगर से कटा हुआ है तो दूसरी ओर मूल्य सर्जक और मूल्यसेवी रूप में महज मानवकेन्द्रित नहीं, जहाँ संघर्ष और विरोध उसके प्रकृतिजयी स्वरूप में ही निहित होता है। 'दी फिलॉसफी ऑफ कल्चर : एन इन्ट्रोडक्शन टू क्रियेटिव ह्यूमनिज़्म', 'ह्यूमनिज़्म इन इण्डियन थॉट', 'फ्रीडम', 'क्रियेटिविटी एण्ड वैल्यू', 'दी लिमिट्स ऑफ डिसएग्रीमेन्ट' इत्यादि रचनाओं में देवराज के सर्जनात्मक मानववाद का विकसित रूप एक स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में सामने आया है।

देवराज क अनुसार मूल्यों की सृष्टि और अर्थवत्ता मनुष्य की सर्जनशीलता के कारण है। इसके लिए कोई ईश्वरीय व्यवस्था आवश्यक नहीं। यद्यपि मनुष्य की सर्जनशीलता युग और संस्कृति सापेक्ष हीं आकार ग्रहण करती है, इसलिए नैतिक दृष्टि की समय–साक्षेपता असंदिग्ध है, परन्तु समस्त सापेक्षताओं से परे व्यवहार के कुछ ऐसे नियम होते ही हैं जिन्हें सार्वभौम नैतिकता कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए दूसरों के साथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें। अतः मनुष्य में नैतिक मूल्यबोध का एक सार्वभौम आयाम होता है और वह मानव स्वभाव की एक आन्तरिक आवश्यकता है। अकारण परहित–साधन और संत चरित्र में इसकी पराकाष्टा देखी जा सकती है। हम नैतिक क्यों बनें ? इस आधारभूत प्रश्न का उत्तर भी देवराज को इस रूप में प्राप्त हो जाता है कि तर्कबुद्धि की भाँति नैतिक चेतना भी मानव प्रकृति के अन्तरंग गठन का हिस्सा है। नैतिकता बहार से थौपी गई कोई कृत्रिम मनोवृत्ति नहीं है। हम जिसे नैतिकता कहते हैं, वह स्वयं में एक साध्य मूल्य है, स्वच्छता और सौष्ठव की भाँति वह हमारे स्वभाव की एक आवश्यक मांग है। ऐसी मांगों को ठुकराते हुए या फिर उनकी अनदेखी करते हुए हम स्वंय अपनी ही नजरों में हीन बन जाते हैं।

देवराज के 'सृजनात्मक मानववाद' का प्रमुख उद्धेश्य भारतीय मनुष्य या फिर मनुष्यमात्र को उस संकट से उबारना है जिसे वे 'सांस्कृतिक विभ्रम' की अवस्था मानते हैं। इसका मतलब मूल्यों की अभिज्ञा एवं तदनुरूप प्रतिक्रियाओं के बीच बोधगम्य सक्रियता अथवा अनुक्रम का अभाव है। इसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति एक ओर भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल रहता है तो दूसरी ओर धार्मिक पुनरूत्थान जन्य कर्मकांडों में शांति की खोज करता रहता है। इस मूल्यांकन सम्बन्धी असमंजस, जिसे देवराज वर्तमान सांस्कृतिक संकट का मूल कारण मानते हैं– को दूर करने का उपाय एक सम्यक्, सृजनात्मक और सार्थक जीवन–दर्शन अर्थात् आचरण में अनुदित दर्शन का सृजन ही है। आजीवन वे ऐसे ही दर्शन को विकसित करने में प्रयत्नशील रहे जो व्यक्ति में ऐसा जीवन–विवेक जागृत कर सके कि वह उच्चतर और निम्नतर जीवन–रूपों में भेद कर सके और उच्चतर के अन्वेषण और उसके वरण में आत्मचेतन रूप से प्रवृत्त हो सके। इसी में उसके आत्मचेतन प्राणी होने की प्रतिष्ठा है।

मानवीय सभ्यता के विकास में मनुष्य की उपर्युक्त स्थितिपरक चुनौती का समाधान प्रस्तुत करने के प्रयत्न में 20वीं शताब्दी में कई तरह के मानववादी दर्शन सामने आये हैं। परन्तु देवराज का 'सर्जनात्मक मानववाद' इस अर्थ में विशिष्ट है कि वे एक ओर मूल्यों की अतंवैंयक्तिक्ता एवं सहयोग्यता को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर संत्रास, निराशा इत्यादि को मनुष्य होने की नियति नहीं मानते। उनका मानना है कि अस्तित्ववादी मानववाद अपने को जिस प्रकार के मानवी–स्थिति के विश्लेषण पर आधृत करता है, वह वस्तुतः 'अवरूद्ध सर्जनशीलता' का परिणाम है। अस्तित्ववादी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिकों की कमी यह है कि वे मानवीय सर्जना के आत्मचेतन विधायी–आयाम को देख नहीं पाये। पाश्चात्य मानववादी अवधारणा से देवराज का मानववाद इस अर्थ मे भिन्न है कि पश्चिमी दृष्टि जहाँ देश–काल में सीमित व्यक्ति को केन्द्रीय सत्ता प्रदान करती है वहीं देवराज की दृष्टि में केन्द्रीय सत्ता व्यक्ति न होकर सार्वभौम मानव है जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान है। उनका मनुष्य 'इतिहास पुरूष' का पर्याय है और वह कोई अधिष्ठान भूत अव्यय पुरूष नहीं बल्कि सतत् मानवीय सर्जना से स्वरूप ग्रहण करता हुआ, आविर्भूत होता हुआ निरन्तर मूल्योन्मुखी भव्यमान पुरूष है। अतः स्वभाव से ही सर्जनशील मनुष्य की 'इतिकर्त्तव्यता' का भाष्य ही देवराज का 'सर्जनात्मक मानववाद' है।

इस काल में भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध और भी अनेकों अध्येताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने वैयक्तिक और संस्थागत स्तर पर स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दर्शन के विकास को प्रभाावित किया है। वस्तुतः किसी चिन्तन परम्परा को पुरोगामी विकासोन्मुख आयाम प्रदान करना ही सही अर्थों में विकास होता है लेकिन परम्परागत चिन्तन को अपने अध्यवसाय से गतिशील और जीवन्त बनाये रखना भी उसके प्रति कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युग के ऐसे अध्येताओं में निम्नलिखित का उल्लेख प्रमुखता से लिया जा सकता है।

भुवनेश्वर के गणेश्वर मिश्र (1917–1985) अपने समय के जाने–माने अध्येता थे। ए.जे. एयर के शिष्य के रूप में इन्होंने 'सोर्स ऑफ मोनोइज़्म इन शंकर एण्ड ब्रेडले' विषय पर लंदन से पी–एच्.डी. की उपाधि (1955) प्राप्त की थी। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन की पद्धति का भरपूर उपयोग करते हुए 'स्टडीज़ इन अद्वैत वेदान्त' (1976) उनकी प्रसिद्ध कृति है।

आर.के. त्रिपाठी (1918–1981) जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में टी.आर.वी. मूर्त्ति के शिष्य रहे, उनका झुकाव वेदान्त दर्शन और उसमें भी शांकर वेदान्त की ओर सर्वाधिक था। दर्शन की आधुनिक समस्याओं पर अद्वैत वेदान्त के पक्ष को मजबूती से रखने की क्षमता उनमें अद्भुत थी। उनके लिए अद्वैत वेदान्त की विचार–प्रक्रिया 'दर्शन की अवधारणा' का पर्याय जैसी थी। प्रॉब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रिलीजन' (1971) नामक ग्रन्थ में यह सब कुछ प्रांजल सम्प्रत्ययात्मक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। आर.के. त्रिपाठी का पहला महत्त्वपूर्ण कार्य 'स्पिनोजा इन दी लाइट ऑफ वेदान्त' 1958 में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था। आर. के. त्रिपाठी के दार्शनिक चिन्तन का सर्वाधिक मौलिक पक्ष यह कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन्होंने अद्वैतवेदान्त में अद्वैतवादी दर्शन का सर्वथा सुसंगत रूप देखा है। वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारत में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध दार्शनिकों की मौलिक परम्परा अद्वैत की परम्परा रही है। प्रो. त्रिपाठी ने इस परम्परा को मूलगामी और पुरोगामी बनाया है। उनकी दृष्टि में दार्शनिक चिन्तन का उत्स ही एक तरह के मिथ्यात्व बोध के साथ होता है और उसका पर्यवसान तत्त्व की अद्वैतानुभूति में होती है। दर्शन की पद्धति अपने मौलिक स्वरूप में अद्वैत की पद्धति है जो महज बौद्धिक वाग्विलास या प्रत्ययों का अमूर्त आडम्बर खड़ा करना नहीं, न ही यह सामान्य अनुभव की अन्वीक्षा है अथवा द्वंद्वात्मक पद्धति या द्वंद्वन्याय है। दर्शन अपने मूलगामी स्वरूप में प्रत्यगनुभव की गहन मीमांसा है जो अनुभूति के ऐसे आयाम से हमारा साक्षात्कार कराती है जिस ओर वैदिक ऋषि–परम्परा और श्रुति बार–बार निर्देश करती है।

सुरेन्द्र सदाशिव बारलिंगे (1919–1997) पुणे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अंग्रेजी, हिन्दी और मराठी तीनों ही भाषाओं में आधुनिकोन्मुख दार्शनिक लेखन के द्वारा भारतीय दर्शन को बढ़ावा दिया है। 'ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन लॉजिक' (1965) नामक पुस्तक में उन्होंने भारतीय तर्कविद्या को आकारिक तर्कशास्त्र की पदावली और तौर–तरीके से प्रस्तुत किया है। इसी तरह भारतीय नीतिशास्त्र और भारतीय दर्शन को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करने वाले उनके ग्रन्थ 'ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन एथिक्स' (1997) और 'री–अण्डरस्टैंडिंग इण्डियन फिलॉसफी' (1998) हैं। बारलिंगे का एक विशिष्ट योगदान 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' के क्षेत्र में भी रहा है। वे उन प्राथमिक व्यक्तियों में रहे हैं जिन्होंने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की पहले–पहल रूपरेखा प्रस्तुत की है।

चन्द्रधर शर्मा (1920–2004) जो पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और बाद में जबलपुर से सम्बद्ध रहे, वे एक ख्यातनामा शिक्षक और भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के सिद्धस्थ व्याख्याकार थे। उनके द्वारा लिखी गई पहले अंग्रेजी में 'ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' (1952) और बाद में उसी का परिवर्द्धित हिन्दी संस्करण (1990) आज भी भारत के विद्यार्थियों के द्वारा सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला ग्रन्थ है। 'डायलेक्टिक ऑफ बुद्धिज़्म एण्ड वेदान्त' तथा 'दी अद्वैतिक ट्रेडीशन इन इण्डियन फिलॉसफी' (1996) नामक ये दोनों ग्रन्थ उनके अद्वैतवादी अध्यवसाय के प्रांजल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

नागपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नारायण शास्त्री द्रविड़ (1923–2010) जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में न्यूजीलैण्ड में बस से गये थे,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वे अपने समय के भारतीय प्रमाणशास्त्र, नव्यन्याय और अद्वैत वेदान्त के परिष्कर्त्ता विद्वान् थे। भारतीय तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र की समस्याओं की विशिष्टता को पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के समक्ष उपस्थापित करने वालों में उनका तो कोई शानी नहीं था। उन्होंने भारतीय प्रमाणशास्त्र के प्रगत स्वरूप को मराठी भाषा में प्रस्तुत किया है (2009)। इसके अतिरिक्त नव्यन्याय की 'पक्षता' पर आई.सी.पी.आर. से 2007 में प्रकाशित उनकी एक विशिष्ट कृति है। उन्होंने 'न्यायकुसुमांजली' और 'आत्मतत्त्वविवेक' का अंग्रेजी में मानक अनुवाद भी किया है। 'भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें' (2009) शीर्षक से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने उनके प्रकीर्ण हिन्दी लेखन को प्रकाशित किया है।

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (1923–2011) स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक मान्य और प्रतिष्ठित अध्येता रहे हैं। उन्होंने आजीवन इतिहास, दर्शन और संस्कृति जैसे विषयों पर अपनी लेखनी से महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है। उनकी सम्पूर्ण विचार–साधना समवेत रूप से 'संस्कृति–दर्शन' के रूप में फलित हुई है। पाण्डेजी के संस्कृति दर्शन पर हीगेल के इतिहास दर्शन, बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविन्द के मानवचक्र–सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखता है लेकिन उसकी अन्तिम परिणति भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आत्मानुसंधानपरक विराट मूल्यबोध में होती है। उनकी बहुविध रचनाओं में मुख्य रूप से 'फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन', 'दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर', 'कॉन्सियसनेश वैल्यू कल्चर' और 'मूल्य–मीमांसा', 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' तथा 'शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ' जैसी कृतियाँ उन्हें 20वीं सदी के विश्वस्तरीय संस्कृति दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। इसके अतिरिक्त 'भक्ति दर्शन विमर्शः', 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः' तथा 'दर्शन विमर्श' (अप्रकाशित) उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में लिखी गई अत्यन्त मौलिक कृतियाँ हैं। कुल मिलाकर वे अपने वाङ्मयी व्यक्तित्व में भारत–भारती के असाधारण प्रतिसंस्कर्त्ता कहे जा सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए भारतीय परम्परा की यह उक्ति कि "मुनिनां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्" चरितार्थ होती है।

के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति (1924–2011) अपने सौम्य व्यक्तित्व, गवेषणात्मक प्रतिभा और प्रगल्भ वाग्मिता के चलते अपने समय के बहुत सम्मानित दार्शनिक रहे। पद्मविभूषण पट्टाभिराम शास्त्री ने 1980 में उन्हें 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमतिवैभव' से अभिहित किया था। दार्शनिक समुदाय में उन्हें 'द्वितीय राधाकृष्णन्' माना जाता था। सच्चिदानन्द मूर्त्ति ने अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक अध्यवसाय के द्वारा वेदान्त की मूल भावना 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की धार्मिक चेतना का दार्शनिकीकरण लोक जीवन के यथार्थ धरातल पर किया है। 'रेवेलेशन एण्ड रीज़न इन अद्वैत वेदान्त' (1959), 'दी रेल्म ऑफ विटविन' (1974), 'अद्वैतिक नोशन' (1985), 'फिलॉसफी इन इण्डिया' (1991) और 'वैदिक हरमैन्यूटिक्स' (1993) इत्यादि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के एक राजनयिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने 'शान्ति का दर्शन' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के पक्ष को उसकी सम्पूर्ण महिमा के साथ उपस्थापित किया है। 1960 में प्रकाशित उनकी कृति 'स्टडीज़ इन दी प्रॉब्लेम्स ऑफ पीस' दार्शनिक चिन्तन के एक नये क्षेत्र की उद्‌भावक कृति है। 'एफ्रो एशियन फिलॉसफी' नामक संस्था भी उन्होंने 'प्रगति और शान्ति' के दर्शन को बढ़ावा देने के लिए ही किया था। प्रो. अशोक वोहरा (ज. 1949), जिन्होंने राधाकृष्णन् के दर्शन पर सच्चिदानन्द मूर्त्ति के साथ मिलकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और स्वयं भी विटिगेन्स्टाइन के दर्शन के ज्ञाता और उसकी कृतियों के एकमात्र हिन्दी अनुवादक हैं, सम्प्रति सच्चिदानन्द मूर्त्ति के दार्शनिक योगदानों को प्रकाश में लाने के लिए एक बड़ा ग्रन्थ सम्पादित कर रहे हैं। विटिगेन्साइन दार्शनिक चिन्तन के विश्व इतिहास में एक युगान्तकारी चिन्तक रहे हैं। प्रो. अशोक बोहय ने उनकी महत्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर एक महत्वपूर्ण योगदान किया है।

द्रष्टव्य है कि किसी विचार–परम्परा को उसके समस्त गुण–सूत्रों के साथ जानना जितना आवश्यक है, उतना ही महत्त्वपूर्ण उसके मूल का संरक्षण एवं संवर्द्धन करते हुए समसामयिक सन्दर्भों में उसे जीवन्त बनाये रखना भी है। एक सजग अध्येतृता की ऐसी ही भूमिका में दयाकृष्ण (1924–2007) की गणना समकालीन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उन प्रथम कोटि के बहुत थोड़े से विचारक़ों में की जा सकती है जिन्होंने अपनी उत्तेजक प्रतिभा से अपने समय में इस देश के दार्शनिक वातावरण को सर्वाधिक प्रभावित किया है। यद्यपि वे उन लोगों में भी विशिष्ट स्थान रखते हैं और यह विशिष्टता उन्हें उनके दो गुण देते हैं। एक है नितान्त अपारम्परिकता, सर्जनात्मकता और सहजमूलगामिता। अपनी इसी प्रकृति के कारण उनमें किसी भी विचार–प्रसंग में अवाक कर देने वाली नवोन्मेषी आधारभूत प्रश्न खड़ा करने की अद्‌भुत क्षमता रही। यह वास्तव में उनके व्यक्तित्व का ही गुण था, क़ेवल दार्शनिक विचार का नहीं, जो उन्हें निराग्रही, सरल और दम्भरहित प्राश्निक बनाता था। मानो प्रश्न उठाने की कला उनके लिए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिकीकरण का पर्याय हो। उनकी दूसरी विशेषता दृष्टि की व्यापकता और अन्यान्य विषयों को समझने और उन पर विचार करने की क्षमता थी। उन्होंने दर्शन के परम्परागत प्रश्नों, समस्याओं पर विचार करने के अतिरिक्त ज्ञान की अनेक शाखाओं पर लीक से हटकर चिन्तन प्रस्तुत किया है। द्रष्टव्य है कि विभिन्न विषयों पर विचार कर पाने का सामर्थ्य कोई वैसी बात नहीं जैसे कि एक मकान में अनेक कमरों का होना, अथवा एक डिब्बे में अनेक रंगों की गोलियाँ होना। यह सामर्थ्य दृष्टि की व्यापकता में प्रतिफलित होती है और इससे विमर्श को एक नया आयाम और स्तर प्राप्त होता है। इस स्तर पर ज्ञान की विभिन्न विधाओं की बनी–बनायी सुविधापेक्षी सीमायें अप्रासंगिक हो जाती हैं। एक विषय अब न केवल दूसरे विषय को आलोकित करने लगता है, बल्कि अन्य विषयों से आने वाला आलोक प्रस्तुत विषय में नये आयामों को उद्भासित भी करता है। दयाकृष्ण की दृष्टि इसी अर्थ में व्यापक रही। संग्राहक और विवरणात्मक बृद्धि कभी भी उनके लिए रुचिकर नहीं बन सकी।

दयाकृष्ण विचारित और अविचारित के मध्य विचार–कला के असाधारण शिल्पकार थे। ऐसे विचार–शिल्प की मूलगामिता किसी विचार को उसके प्रातिस्विक स्वरूप में देखने में और उसकी आँख खोलने वाली नवीनता वैकल्पिक दृष्टिकोणों को उद्भावित करने में फलित होती है। दयाकृष्ण की दार्शनिकता इन दो प्रवृत्तियों से सदैव आपूरित रही है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा दिल्ली के एक सनातन धर्म स्कूल में हुई। दर्शनशास्त्र विषय में स्नातक स्तर की पढ़ाई उन्होंने दिल्ली के ही हिन्दू कॉलेज से किया। दर्शनशास्त्र में ही स्नातकोत्तर एवं पी–एच्.डी. की उपाधि उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की। प्रो. निकुंज बनर्जी उनके शोध–निर्देशक थे तथा 'गिलबर्ट राइल' उनके शोध–प्रबन्ध के बाह्य परीक्षकों में एक रहे। कुछ दिनों तक उन्होंने हिन्दू कॉलेज और इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, अमलनेर में शोध सहायक के रूप में कार्य करने के उपरान्त वे सागर विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश में (1956–60) शिक्षण कार्य किये। दयाकृष्ण रॉक फेलर फाउण्डेशन (1960–61) एवं ईस्ट–वेस्ट सेन्टर, हवाई (1962–63) के वरिष्ठ अध्येता भी रहे। तदुपरान्त 1966 से 1984 तक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से सम्बद्ध होकर उन्होंने न केवल अपनी प्रतिभा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात किया बल्कि उस विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग को एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में स्थापित भी किया। जयपुर में रहते हुए देश भर के सम्भावनावान आधुनिक एवं परम्परागत मनोवृत्ति के अध्येताओं को साथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेकर भारतीय दर्शन को उन्नीत करने का जो उन्होंने उपक्रम संचालित किया है उसे यदि 'जयपुर प्रयोग' से अभिहित किया जाय तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजस्थान विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए ही दयाकृष्ण हवाई विश्वविद्यालय (1970) एवं कारलेटोन कॉलेज, मिन्नेसोटा (1971) में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। भारत में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् ने उन्हें क्रमशः 1987 से 89 और 1990 से 91 पर्यन्त अपना राष्ट्रीय अध्येता बनाकर अपने को सम्मानित किया है। वे 'डायोजनिज' पत्रिका के सम्पादक–मण्डल सदस्य एवं जे.आई.सी.पी.आर. पत्रिका के लम्बे समय तक सम्पादक रहे। जे.आई.सी.पी.आर. पत्रिका के सम्पादक के रूप में न केवल उन्होंने इस पत्रिका को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया बल्कि पुरानी और नवीन पीढ़ी में व्याप्त दार्शनिक तंद्रा को झकझोरते हुए उनमें अपने दार्शनिक विरासत के प्रति गौरव बोध भी पैदा किया। उनके अनेकों शोध–निबन्ध 'माइण्ड' एवं 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' जैसी अन्यान्य पत्रिकाओं में आजीवन प्रकाशित होते रहे। उनमें से कुछ तो इतने विचारोत्तेजक स्थापनाओं के साथ प्रस्तुत हुए हैं कि उन स्थापनाओं को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक संवाद का प्रारम्भ देखा जा सकता है। दयाकृष्ण के चिन्तन एवं विचार इतने बहुआयामी रहे हैं कि उन्हें किसी वाद या विशेष विचार–परम्परा की सीमा में बाँध कर नहीं देखा जा सकता। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में तो लिखा ही है लेकिन साथ ही साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं भारत–विद्या पर भी बहुत कुछ लिखा है। उनके वैचारिक अभिरुचि की अन्तहीन प्रवहमानता को देख कर कोई यह कह सकता है कि उनकी दार्शनिकता नवोन्मेषी होते हुए भी आस्वादक अधिक और निर्मायक कम थी। तब भी अपनी आस्वादक वृत्ति के साथ उन्होंने जिस किसी क्षेत्र में हस्तक्षेप किया वह स्थापित विचार की आत्ममुग्धता का भाजन करने वाला, उसकी नई परतों को उकेरने वाला और गतानुगतिक विचार–पद्धति की तन्द्रा को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ है। अपने दार्शनिक अध्यवसाय के प्रारम्भिक चरण में वे पाश्चात्य दर्शन के बड़े हिमायती थे लेकिन बाद में उनकी रुचि भारतीय दर्शन की ओर हुई और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को 'प्रॉपर वर्क ऑफ रीजन' की दृष्टि से समझने के प्रयास में उन्होंने भारतीय दर्शन की स्थापित मान्यताओं के सन्दर्भ में आधारभूत प्रश्न उठाये जो वास्तव में उन पर नये ढंग से सोचने और विचार करने की एक नई दृष्टि देता है। दी नेचर ऑफ फिलॉसफी (1956) और दी आर्ट ऑफ कान्सेप्चुअल (1989) नामक उनकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कृति से उनके दार्शनिक गोत्र का पता चलता है। उनके लिए दर्शन वास्तव में विमर्शात्मक चेतना के धरातल जीवन और जगत् की सम्प्रत्ययात्मक समझ के लिए बुद्धि के द्वारा स्वयं से किया गया संघर्ष है। इसीलिए एक दार्शनिक का कर्म प्रकृति वैज्ञानिक, गणितज्ञ एवं तर्कशास्त्री से भिन्न प्रकार का होता है। सोशल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर (1969), कन्सीडरेशन्स टूवार्ड्स ए थ्योरी ऑफ सोशल चेंज (1965), पॉलिटिकल डेवेलपमेंट : ए क्रिटिकल पर्सपेक्टिव (1979) तथा डेवेलपमेंट डिबेट : फ्रीड डब्ल्यू रीग्स एण्ड दयाकृष्ण (1987) नामक कृतियाँ उनके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दर्शन से सम्बन्धित हैं। प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्ट्रीयोग्राफी ऑफ कल्चर एण्ड सिविलायजेशन (1997) में दयाकृष्ण एक सभ्यता–विज्ञानी के रूप में दिखाई पड़ते हैं। दयाकृष्ण की ऐसी कृतियाँ जिनमें भारतीय दर्शन को पुनःसंगठित और पुनर्रचित करने की प्रश्नानुकूलता दिखाई पड़ती है, उनमें इण्डियाज इनटेलेक्चुअल ट्रेडीशन (सम्पा. 1987), संवाद : ए डायलॉग बिटविन टु फिलॉसफिकल ट्रेडीशन्स (सम्पा. 1991), इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव (1991), न्यू पर्सपेक्टिव इन इण्डियन फिलॉसफी (2001), भारतीय दर्शन : एक नवीन दृष्टि (2000) तथा डिस्कशन एण्ड डिबेट इन इण्डियन फिलॉसफी (2005) इत्यादि प्रमुख हैं। इस तरह देखा जाय तो पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं का मंथन कर चुकने के बाद दयाकृष्ण का भारतीय दर्शन में प्रवेश एक 'प्राश्निक' के रूप में मानो वैसे ही होता है जैसे वैदिक ऋषि 'कोत्स' फिर लौट आये हों।

दयाकृष्ण की दार्शनिक भूमिका का समारम्भ उपनिवेशोत्तर भारत के ऐसे वातावरण में हुआ जब भारतीय विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन का प्रभुत्व था और भारतीय दर्शन परम्परा को 'दर्शन' पद से अभिहित होने के योग्य ही नहीं माना जाता था क्योंकि हेगल से लेकर हुस्सर्ल तक यही प्रचारित किया गया कि भारतीय दर्शन वास्तव में 'दर्शन' जैसी कोई चीज़ नहीं, अधिक से अधिक इसे 'थियोलॉजी' के अन्तर्गत किसी तरीके से रखा जा सकता है। दयाकृष्ण भी अपने आरम्भिक दिनों में पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में ही हस्तक्षेप दर्ज किये और आभास एवं सत् की समस्या पर, विरोध के नियम पर, संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक ज्ञान की समस्या पर, भाषायी विश्लेषण, धार्मिक अनुभव एवं रहस्यवाद जैसे विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेखन किया। द्रष्टव्य है कि भारत के अध्येताओं ने पाश्चात्य दर्शन की चाहे जितनी सेवा की हो, और पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव में भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करने का चाहे जितना भी दवा करें, लेकिन उनके इस कृत्य को न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो पाश्चात्य जगत् में मान्यता मिली, और न ही उन्हें भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठापक आचार्य का स्वीकरण प्राप्त हुआ। यद्यपि अपवाद के तौर पर भारत के कुछ एक अध्येताओं को यूरोप में मान्यता मिली और उनमें से जड़ावलाल मेहता, जे.एन. मोहन्ती, रिचर्ड सोराबजी, अकील बिलग्रामी और दयाकृष्ण का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इसमें दयाकृष्ण की विशिष्टता यह रही कि उन्होंने किसी दर्शन या दार्शनिक प्रवृत्ति–विशेष के व्याख्याकार के रूप में अपनी पहचान अर्जित नहीं की, बल्कि उनकी पहचान उनकी स्वतंत्र दार्शनिक सृजनशीलता के कारण प्राप्त हुई। उनके लेखन को उस समय के स्थापित दार्शनिकों ने गम्भीरता से लिया और इस सन्दर्भ में आलोचना–प्रत्यालोचना का एक मानो दौर शुरू हुआ। डेले रीप ने अपनी पुस्तक इण्डियन फिलॉसफी सिन्स इण्डिपेन्डेंस (1978) में, तथा फ्रीड डलमायर ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों, बियोण्ड ओरियेण्टलिज्म (1994) तथा इन्टीगरल प्लूरलिज्म : बियोण्ड कल्चर वार (2010) में दयाकृष्ण के दर्शन और दार्शनिक हस्तक्षेप को सन्दर्भित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। फ्रीड डलमायर के द्वारा दयाकृष्ण को 'इण्डियन फिलॉसफर ऑफ इन्टीगरल प्लूरलिज्म' की कोटि में सन्दर्भित करना उनके सम्पूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय को समवेत रूप से एक शीर्षक के अन्तर्गत समेट लेता है। विचारों की विविधता और दृष्टिकोणों की वैकल्पिकता दयाकृष्ण के लिए मानो सौन्दर्यबोध जैसी वस्तु थी। अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक की यह पंक्ति "संवादास्तु भवन्त्ये बाहुल्येन सुभेधसाम्। नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता।।" उन्हें बहुत प्रिय थी।

पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में गहरी पैठ रखने वाले दयाकृष्ण का भारतीय दर्शन की ओर मुड़ना वास्तव में किसी रागात्मक वृत्ति अथवा सांस्कृतिक निष्ठा के कारण नहीं बल्कि भारतीय दर्शन का वह स्वरूप जो अंग्रेजी माध्यम के द्वैतियक लेखन के द्वारा दुनियाँ के सामने प्रस्तुत किया था, उसके स्वरूप के प्रति व्याख्यात्मक असन्तोष के कारण हुआ। उनके इस असन्तोष को उग्रता प्रदान करने का एक और हेतु बना भारतीय दर्शन के स्वरूप को मध्य युगीन पाश्चात्य दर्शन की तरह एकरेखीय (यूनीलिनियर) प्रारूप में प्रस्तुत किया जाना, जबकि अपनी निज–दार्शनिक प्रवृत्ति में वे भारतीय दर्शन को बहुरेखीय कार्य योजना (मल्टी लिनियर प्रोजेक्ट) के रूप में देखना चाहते थे। इसमें दो राय नहीं कि दयाकृष्ण का यह भारतीय दर्शन के प्रति एक भिन्न नजरिया था और भारतीय दर्शन परम्परा में इसके लिए पर्याप्त अवकाश भी है। 'आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः' – की बहुलवादी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक संस्कृति दयाकृष्ण के इस नजरिये को प्रमाणित भी करती है। इसीलिए भारतीय दर्शन पर उनके प्रारम्भिक लेखन उन सभी अवधारणाओं को विखण्डित करता है जो भारतीय दर्शन को एकरेखीय (यूनी लिनियर) स्वरूप प्रदान करने में सहायक होते हैं। इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव (1991) नामक ग्रन्थ में संकलित सभी आलेख दयाकृष्ण की उपर्युक्त दृष्टि के ही प्रस्तावक हैं। उदाहरण के बतौर अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'थ्री कॉन्सेप्शन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (फिलॉसफी : ईस्ट एण्ड वेस्ट – जनवरी 1965) के उपसंहारात्मक कथन में भारतीय दर्शन की इस सर्वसाधारण मान्यता का विरोध करते हुए कि भारतीय दर्शन केवल और केवल मोक्षशास्त्र है, दयाकृष्ण कहते हैं कि "भारतीय दर्शन की एकमात्र मोक्ष में ही रुचि नहीं है, और न यह उसका प्रमुखतम प्रश्न ही है। अनेक दार्शनिकों और सम्प्रदायों का इससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। अनेक अन्य इससे केवल बाहरी वृत्त पर ही सम्बन्धित हैं। बहुत कम दार्शनिकों के लिए यह एक प्रमुख प्रश्न है और यदि है भी तो उनकी रुचि इसमें विशुद्धतः दार्शनिक प्रकार की है। प्राचीन दार्शनिकों की केवल प्रचारात्मक अभ्युक्तियों ने, और यह देख पाने की असमर्थता ने कि मोक्ष का प्रश्न भी दार्शनिक समस्याओं को जन्म दे सकता है, इस भ्रान्त धारणा को जन्म दिया कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक मुक्ति से आन्तरिक और अभिन्न रूप से सम्बद्ध है और 'दार्शनिक' कही जाने वाली समस्याओं से नहीं। अब समय है कि हम इस सम्मोहन को त्याग दें और भारतीय दर्शन को मूलतः 'दर्शन' के रूप में देखें।"

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परम्परा को बहुरेखीय कार्ययोजना (मल्टी लिनियर प्रोजेक्ट) के रूप में प्रस्तावित कर दयाकृष्ण एक विशुद्ध भारतीय दार्शनिक की भूमिका में अपनी अध्येतृता के दूसरे चरण में आते हैं। इस चरण में उनके अध्यवसाय का आकार और अन्तर्वस्तु बहुत ही व्यापक और पाथ ब्रेकिंग जैसा रहा है। इस अर्थ में 'पाथ ब्रेकिंग' कि उन्होंने तर्कयुक्ति पुरस्सर भारतीय दर्शन के बहुलतावादी वैचारिक वैभव को बड़े विस्तार से उद्घाटित किया है। यह सब कुछ उनकी कृति न्यू पर्सपेक्टिव इन इण्डियन फिलॉसफी (2001), भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि (2000) एवं डेवेलपमेंट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी फ्रॉम 18 सेन्चुरी ऑनवार्ड (2002) जैसे ग्रन्थों में सम्पूर्ण विस्तार और सम्भावित निहितार्थों के साथ देखा जा सकता है। यद्यपि इन सभी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने सम्प्रदाय केन्द्रित भारतीय दर्शनों की उपस्थापनाओं की खण्डन–मण्डन परक कोई नवीन व्याख्या नहीं की है बल्कि भारतीय दर्शन के इतिहास की एक तरह से विचार–केन्द्रित और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचारक–केन्द्रित पुनर्रचना की है। इससे एक ओर ओरिएण्टलिस्ट विद्वानों के द्वारा भारतीय दर्शन की जो छवि बनायी गई थी, उस ऐतिहासिक अन्याय का पुरजोर प्रतिकार हुआ है तो दूसरी ओर भारतीय दर्शन की ऐसी तस्वीर सामने आती है जो स्थावर नहीं बल्कि विकास के उत्तरोत्तर आयामों को अवाप्त करते हुए सतत् वर्द्धमान रही है। यह बात अलग है कि हम इस थाती को पूरे तौर से देख पाने में और समुचित रूप से उसका आकलन कर पाने में अब तक असमर्थ रहे हैं। दयाकृष्ण इसके कारणों का संकेत करते हुए हमें सचेत भी करते हैं कि पिछले एक सौ पचास वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ कि हम इस भारतीय सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं। उस स्मृति से, जो आत्मचेतना के स्तर पर इस सभ्यता के होने की, उसके अस्तित्व की बुनियादी शर्त रही है। यहाँ अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया जो अपने मुल्क और अपने लम्बे अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानने में रुचि रखते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है – यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में, जहाँ हमारे दिमाग की ढलाई होती है, यही सब पढ़ाया भी जाता है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें इस देश का हर पढ़ा–लिखा आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं, और यह कि भारतीय सभ्यता अथवा किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व–सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। हमारे यहाँ अगर कुछ है जिससे हम थोड़ी बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह है सिर्फ अध्यात्म, धर्म या विज्डम, जो भी उसे कह लें। हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति–भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल भी अवगत नहीं होते कि हम इतिहास के हाजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजरकर ही यहाँ पहुँचे हैं। हमारी इस स्मृति–भ्रष्ट बदहाली का हाल वस्तुतः उस शिक्षा पद्धति की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे 'अपार्थीड' में हुई है। एक तरफ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'माडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद की गुंजाइश ही नहीं बची है। चूँकि ये 'माडर्न' ही देश के सत्ताधारी 'एलीट' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आप को पाँच हजार बरसों –उथल–पुथल से भरे वर्षों– में भी निरन्तर कायम और सक्रिय रूप से रचनाशील बनाये रखा, उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म–विस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का खतरा उपस्थित है। यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना विचारे अपना लिए गये 'इण्डोलॉजिकल' दृष्टिकोण से और गहरा गया है।

इस तरह देखा जाय तो भारतीय दर्शन के क्षेत्र में दयाकृष्ण का अध्यवसाय उपर्युक्त साजिश भरे ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक पूर्वपक्ष और उसके प्रति हमारी स्मृति–भ्रंश के प्रत्युत्तर में एक बड़ी शुरूआत है और साथ ही साथ भारतीय दार्शनिक परम्परा को पुनर्गठित करने हेतु एक भाष्यधर्मी अभियान का आह्वान भी है। दयाकृष्ण के दार्शनिक अध्यवसाय का निहितार्थ भी यही है कि उन्होंने इस भाष्यधर्मी अभियान की यथासम्भव एक रूपरेखा प्रस्तुत की है ताकि भारतीय बौद्धिक परम्पराओं के बहुलवादी स्वरूप को उसकी समग्रता में न केवल उद्‌घाटित किया जा सके बल्कि वर्तमान के आलोक में उसका वैश्विक औचित्य प्रमाणित भी हो सके। उनके इस दार्शनिक अभियान को यदि कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे वैकल्पिकता के तर्कशास्त्र पर आधारित 'बहुलवादी समग्रता का दर्शन' कहा जाना न्यूनाधिक रूप से उचित होगा।

इन्हीं दिनों में पाश्चात्य दर्शन की भाषा विश्लेषणवादी परम्परा से अभिभूत और उस पद्धति को अपने में स्वायत्त कर उसे भारतीय परम्परा के धर्मनीति विषयक स्थापनाओं पर लागू करते हुए उनकी पुनर्रचना का दावा करने वालों में राजेन्द्र प्रसाद (ज. 1926 – पटना एवं आई.आई.टी. कानपुर से सम्बद्ध) अग्रणी रहे हैं। उनके दार्शनिक अध्यवसाय को 'नोरमेटिविटी एण्ड रूल्स ऑफ लैंग्वेज' तथा 'कर्म, काजेशन एण्ड रेट्रीब्युटिव मॉरलिटी' (2004) जैसी कृतियाँ पूरे तौर से प्रदर्शित करती हैं। भाषा और तार्किक विश्लेषण को ही दार्शनिक चिन्तन का पुरूषार्थ समझने वाले राजेन्द्र प्रसाद की इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष उनके अतिमहत्त्वपूर्ण आलेख 'अन इण्डिंग डायलॉग विथ गॉड' और 'डायलॉग विटविन फर्स्ट परसन एण्ड थर्ड परसन' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है (इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली)।

अवधेय है कि 'दर्शन' पद के साथ 'भारतीय' विशेषण भौगोलिकता का वाचक न होकर विचार की एक विशिष्ट गोत्र और परम्परा का द्योतक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द के बाद इस देश में दार्शनिक गतिविधियों से सरोकार रखने वाले बहुतेरे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को 'भारत का दार्शनिक' तो कहा जा सकता है, लेकिन एक 'संस्थापक भारतीय दार्शनिक' की पदवी से केवल यशदेव शल्य (ज. 1928) ही अभिहित किये जा सकते हैं। यदि किसी पाश्चात्य दार्शनिक से उनकी तुलना की जा सकती है तो वे हुस्सर्ल और हायडेग्गर के समकक्ष ही ठहरते हैं। अतः हम यहाँ जरूरी समझते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाय। भारत के वैचारिक स्वराज और राष्ट्रभाषीय राजपथ पर अपने चिन्तन को पुरोगामी रूप से अग्रसारित करते हुए उन्होंने जो दार्शनिक स्थापनायें प्रस्तुत की हैं, वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक उपलब्धि है। उनके लिए 'दर्शन' तमाम ज्ञान–विधाओं की तरह कोई विषयमूलक–व्यवस्था नहीं बल्कि ज्ञान का एक आत्मोन्मुख व्यापार है जो निरन्तर अपने आरम्भ बिन्दु से प्रारम्भ कर उसी पर लौटता है। दर्शन के स्वरूप विषयक इस व्यावर्त्तक अन्तर्दृष्टि को आत्मसात् करते हुए मानवी स्तर पर आत्मचेतन हुई चेतना को अपने दार्शनिक अध्यवसाय का प्रस्थान–बिन्दु बनाकर उन्होंने 'मनुष्य के जगद्भाव' की जैसी तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है, उससे मानवीय सर्जना के सभी पक्षों की व्याख्या एक चकित कर देने वाली मौलिकता के साथ सम्भव हुई है। यह बात अलग है कि भारत का दार्शनिक जगत् उनके दार्शनिक अध्यवसाय से परिचित नहीं हो सका है, क्योंकि भीष्म संकल्प के साथ उन्होंने बहुत लिखा लेकिन सब कुछ हिन्दी में लिखा है।

यशदेव शल्य के जीवन–वृत्त पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि दार्शनिक अध्ययन और लेखन उनके लिए कभी विद्वता लाभ और पाण्डित्य प्रदर्शन का साधन नहीं होकर आत्मचरितार्थन और आत्म सर्जन का कर्म रहा है। वस्तुतः यह उनकी एक दार्शनिक स्थापना भी है कि मनुष्य के कर्म मात्र का औचित्य भी यही है कि वह आत्मचेतन पूर्वक किये गये अपने समस्त कर्मों के द्वारा अपना आत्मक्रियान्वयन ही करता है। यही आत्मक्रियान्वयन क्रिया और कर्म का भेदक और मानवी–प्रस्थिति की व्यावर्त्तक विशेषता है। अन्यथा मनुष्य अर्थलोक की सृष्टि और अवगाहन कर ही नहीं सकता। ऐसे यशदेव शल्य का जन्म 26 जून, 1928 को फरीदकोट (पंजाब) में हुआ। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा की शुरूआत उन्होंने फरीदकोट के ही एक प्राइमरी स्कूल से की और तत्पश्चात् रायकोट (लुधियाना) में स्थित एक गुरूकुल में सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की। वहीं रहकर उन्होंने संस्कृत कॉलेज, जयपुर की 'साहित्योपाध्याय' और पंजाब विश्वविद्यालय की 'प्रभाकर'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परीक्षायें किसी तरह से उत्तीर्ण कीं। इसके अनन्तर अपने घर पर ही रहकर उन्होंने अंग्रेजी की मैट्रिक और इण्टरमीडिएट की परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर संस्थागत पठन–पाठन से अपने को मुक्त कर लिया और स्वतन्त्र अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो गये। स्वतन्त्र अध्ययन के मार्ग पर चलते हुए प्रथमतया वे साहित्य की आलोचनात्मक विधा तथा कविता लेखन की ओर उन्मुख हुए और 1951 में किताब महल, इलाहाबाद से 'पन्त का काव्य और युग' शीर्षक से अपनी पहली पुस्तक को प्रकाशित किया। साहित्य के क्षेत्र में उनकी दूसरी पुस्तक 'काव्य विमर्श' शीर्षक से 2003 में प्रकाशित हुई है। एक साहित्यकार के मानस में दर्शन का बीज कैसे अंकुरित हुआ, यह कहना तो कठिन है लेकिन 1952 में 'प्रतीक' पत्रिका के एक अंक में उन्होंने 'व्यष्टि और समष्टि' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया। पुनः अचानक दर्शन के लिए इतना बड़ा कृत्यानुष्ठान कि 1954 में उन्होंने 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्' की स्थापना की और साथ ही साथ 'दार्शनिक त्रैमासिक' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस प्रकार 1954 से अद्यतन उनका जीवन भारत में दार्शनिक उन्नयन और अपने दार्शनिक चिन्तन को आकार देने में समर्पित रहा है। अनवरत चिन्तन–मनन में निरत रहते हुए उन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकों का प्रणयन किया है जिसमें उनके विचार–वितान और भाषा की संरचना नितान्त मौलिक है। उनकी रचनाओं को सर्वत्र सम्मान भी मिला और अपने समय के मूर्धन्य विद्वानों ने उन पर समीक्षायें लिखीं तथा शंकर पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार जैसे अन्यान्य राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कारों से उन्हें सम्मानित भी किया गया। वे दार्शनिक त्रैमासिक, दर्शन समीक्षा, तत्त्वचिन्तन और उन्मीलन जैसी पत्रिकाओं के संस्थापक सम्पादक भी रहे। विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से किसी प्रकार की उच्च उपाधि से विमुक्त रहने के बावजूद भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद् उन्हें अपना वरिष्ठ फैलो बनाकर अपने को सम्मानित किया है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के माध्यम से इन्होंने दार्शनिक चिन्तन को जैसा उत्त्कर्ष प्रदान किया है वह विचार को उसका पुरुषार्थ प्रदान करने जैसा है। एक दार्शनिक के रूप में यशदेव शल्य भारत के उस गौरवशाली परम्परा के अंगभूत माने जा सकते हैं जिसके लिए 'मुनिनां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्' कहा जाता है।

यशदेव शल्य का अर्द्धशताब्दी से अधिक का अविचल चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तंत्र का रूप ले लिया है। यद्यपि उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है तथापि एक प्रकार से वे अद्वैत वेदान्त की परम्परा में आते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं, किन्तु यह परम्परा उनके चिन्तन में आधरभूत रूप से नवीनीकृत हुई है। यशदेव शल्य ने स्वयं ही अपने दार्शनिक प्रस्थान को 'चिद्द्वैतवाद' (चेतनामूलक अद्वैतवाद) कह कर अपना आत्म–प्रकाशन किया है ('सत् की चिन्मयता' नामक आलेख, उन्मीलन, वर्ष–15, अंक–1, 2001)। सत्ता की चिद्द्वैतवादी अनुसंधित्सा में यशदेव शल्य की दार्शनिक यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी–तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के अन्तर्गत–चिन्तन के साथ हुआ और उन्होंने इसमें 'दार्शनिक विश्लेषण' (1961) नामक पुस्तक लिखी। किन्तु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता नहीं दिखाई दी। अनुभववाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह परम्परा विषय को मात्र संवेदन प्रदत्त के रूप में स्वीकार करती है। इससे एक ओर प्रत्येक चैतसिक स्तर के समानान्तर विषय की परिकल्पना करने से अनावश्यक विषयों को मानना पड़ता है तो दूसरी ओर उन्हें एक सूत्र में बाँधने की समस्या खड़ी होती है ताकि योजनाबद्ध किया की व्याख्या की जा सके। इस प्रकार अनुभववाद अपने विकसित प्रारूप में भी संवेदन–प्रदत्त और वस्तु के बीच की खाई को नहीं पाट पाता है। अतः यशदेव शल्य एक प्रकार से 'सावधान अनुभववाद' को ध्यान में रखते हुए 'अवधारणात्मक सापेक्षतावाद' (वस्तु का स्वरूप अवधारणामूलक मानना) की ओर उन्मुख होते हैं, और इसका प्रतिपादन उन्होंने 'ज्ञान और सत्' (1967) नामक पुस्तक में किया है। परन्तु यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणात्मक–सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है। अपनी इस दृष्टि का पल्लवन उन्होंने 'संस्कृतिः मानव कर्तृत्व की व्याख्या' (1969) नामक पुस्तक में किया है। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा–सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिन्तन के दूसरे महत्त्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत्त–सापेक्षतावाद (वस्तु को चित्–सापेक्ष मानना) से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ही विचार–ध्रुवों के मध्य दोलायमान उनके चिन्तन को 'विषय एवं आत्म' (1972) नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयिता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का एक विलक्षण प्रत्ययवादी प्रयत्न किया। अपने दार्शनिक अध्यवसाय में लगभग डेढ़ दशक तक इस सोपान पर स्थित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यशदेव शल्य को बाद में यह भान होता हुआ प्रतीत होता है कि वे अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में मैं था जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में "अब 'विषय और आत्म' में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं (चिद्विमर्श, प्राक्कथन, पृ. 2)। इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान जिससे अनन्त विषयों के स्त्रोत उद्गत होते हैं, यशदेव शल्य के दार्शनिक चिन्तन का तृतीय और अन्तिम प्रस्थान है। उनकी इस गम्भीर दृष्टि का विकास 'चिद्विमर्श' (1978) नामक ग्रन्थ में हुआ है। यहाँ वे विषय जगत् और अर्थ–लोक की चिद्गत संरचाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवर्तन में देखते हैं। चेतना का आत्मोन्मुख निवर्तन उसका प्रत्यङ्.मुख अभिसरण है और इसी प्रत्यङ्. मुख चेतना (चेतना की अन्तरोन्मुखता) का महाभाष्य करते हुए उन्होंने आत्मचेतन चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक तीनों ही अभिवृत्तियों एवं मानव पर्येषणा के समस्त पक्षों, यथा समाज, संस्कृति, सौन्दर्य, कला, साहित्य, भाषा और इतिहास दर्शन तथा मनुष्य के समस्त मूल्यात्मक अभिनिवेशों की मौलिक व्याख्या की है। यही यशदेव शल्य के दर्शन का चरम चिद्द्वैती प्रस्थान है जिसका बहुआयामी पल्लवन उनके परवर्ती ग्रन्थों, जैसे – सत्ताविषयक अन्वीक्षा (1987), समाज : दार्शनिक परिशीलन (1992), मूल्यतत्त्वमीमांसा (1994), तत्त्वचिन्तन (2003) और 'चित् की आत्मगवेषणा' (2009) में हुआ है।

इस तरह देखा जाय तो यशदेव शल्य के दार्शनिक चिन्तन की विकासात्मक यात्रा में सोपान क्रम से 'चित्सत्तावाद' (सत्ता को चिन्मय मानना) का ही बहुविध रूप से प्रतिपादन हुआ है। इनके चित्सत्तावाद में पारम्परिक दृष्टि से बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय देखने के बजाय चेतना की विमर्शात्मकता के वाचक बुद्धिवाद और इस विमर्श के आत्मस्रोतान्वेषण के वाचक अध्यात्मवाद का यौगपद्य देखा जाना अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि यशदेव शल्य के दर्शन में तार्किक अनुभववाद और तर्कीय प्रत्यक्षवाद के तत्त्वमीमांसा प्रत्याख्यानवादी अभियान को एक जबरदस्त भारतीय प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ है। यह उनके दर्शन की अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पुनर्रचना है जिसे उनके चिन्तन में 1970 के बाद प्रकट रूप से देखा जा सकता है। यह किसी को प्रतीत हो सकता है कि यशदेव शल्य की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन–साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन–विरोधी बौद्धिक परम्परा के अन्दर हुआ, परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके चिन्तन का प्रौढ़ पक्ष तत्त्वमीमांसा के औचित्य प्रतिपादन में ही चरितार्थ हुआ है। यशदेव शल्य के अनुसार यूरोप में जन्में ज्ञान की अधिकांश विधाओं का अगुआ, यहाँ तक कि उनका सांस्कृतिक नेता विज्ञान ही रहा है। विज्ञान के लिए जगत् की यथातथ्य प्रदत्तता ही उसका अन्तिम सत्य है। इस दृष्टि से सत् उनके लिए जगत्पर्यन्त ही है लेकिन ध्यातव्य यह है कि मनुष्य की कल्पना जगत्पर्यवसायी (जगत् तक ही सीमित होना) नहीं है। अतः सत् को जगत्पर्यन्त मानने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति क्या इस प्रश्न पर कभी विचार कर सकती है कि जब मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायी नही तो उसका सत् किस प्रकार केवल जगत्पर्यन्त ही हो सकता है? ऐसा पूर्वाग्रह न तो सम्पूर्ण मानवीय पर्येषणाओं के साथ न्याय कर सकता है और न ही इस मर्म को समुचित व्याख्या कर सकता है कि मानवीय कल्पना क्यों जगत्पर्यवासियता का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इसी अतिक्रमणशीलता में मनुष्य की विशिष्टता और सत्ता का मानो रहस्य छिपा हुआ है। मनुष्य के क्रिया–कलापों में प्राप्त स्थिति से उबरने और उससे आगे अपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति इसी बात का संकेत करती है, मानो उसका कोई गन्तव्य है जिसके सापेक्ष वह अपने को न्यून पाता है। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो तत्त्वमीमांसा के गहरे पानी में गोता लगाना ही होगा और सत्ता की अन्वीक्षा उस रूप में करनी होगी ताकि मानवीय पर्येषणा की उत्तरोत्तरगामिता की समुचित व्याख्या की जा सके। यशदेव शल्य की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में तत्त्वमीमांसा का जैसा प्रस्ताव हुआ है वह 'तत्त्वमीमांसा क्यों' और फिर 'तत्त्वमीमांसा कैसी' दोनों का समुचित उत्तर प्रदान करता है। इन दोनों को अपने में समाविष्ट करता हुआ उनका 'चिद्द्वैतवाद' सृजनशीलता का दर्शन और दर्शन की सृजनशीलता के रूप में सामने आता है।

यशदेव के अनुसार मनुष्य, पशु और भौतिक वस्तुओं को अस्तित्व के इतिहास में क्रमशः जगद्भावापन्न चैतन्य, चित और अचित् कहा जा सकता है। इसमें भौतिक अस्तित्व भीतर–बाहर उभयतः बंद है और पाशव अस्तित्व भीतर से बंद और बाहर से इतरोन्मुख रहता है। यह केवल मानवीय अस्तित्व ही है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला रहता है। इस प्रकार खुले होने से उसमें अपर्याप्तता वास्तव में आत्म–अपर्याप्तता का रूप ले लेती है। इस आत्म–अपर्याप्तता के बोध से उस पर्याप्तता की स्मृति या आभास भी अन्तर्निहित होता है जिससे वह वियुक्त है। मानवीय चेतना में एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूलगामी आत्म–अतिक्रमण में, उसके आत्म संशोधनात्मक सभी प्रयत्नों में यह सब कुछ भली–भाँति देखा जा सकता है। शल्यजी के अनुसार आहंकारिक चैतन्य की आत्म–अपर्याप्तता दूसरे अस्तित्वों से इस अर्थ में गम्भीर एवं तीव्र है कि इसका प्रत्यय आत्म–बाह्य नहीं हो कर आत्मप्रकाशित होता है। अर्थात् यह केवल अन्य–व्यावृत्त नहीं हो कर आत्म–व्यावृत्त या आत्मनिर्वासित भी होता है। यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से दंशित है। यह परिस्थिति इसे एक–दूसरा ही आयाम प्रदान करती है। अर्थात् इसे अपने से अतिक्रामी सत्त्व दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में अभिप्रेत है और जो 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' में श्वेतकेतु का सत्त्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है। इसलिए मानवीय चैतन्य की विशिष्टता उसकी आत्मप्रकाशित आत्म–अपर्याप्तता का बोध है जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव से ऊपर उठने के अतिक्रान्त संकल्प के रूप में दृष्टिगत होता है। मानो अस्तित्व के इतिहास में मानव इसी संकल्प के साथ अपनी आँखें खोलता है।

मनुष्य का एक अतिक्रामी संकल्प को लिए हुए अपनी आँखें खोलने का तात्पर्य यह है कि चेतना मनुष्य के माध्यम से पहली बार आत्मचेतन होती है और सत् के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। मनुष्य की यह अनुसन्धित्सा अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गन्तव्य की जिज्ञासा के रूप में होती है। इस सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य सत्त्व में यह जिज्ञासा प्रकट नहीं होती, मानो मनुष्य के माध्यम से सत्ता स्वयं ही प्रश्न उठाती है कि सत्ता क्या है? शल्यजी के अनुसार इसका उत्स जगद्भाव में चेतना का अपने आप को आत्म–अभावापन्न, आत्म–अपर्याप्त अथवा आत्मनिर्वासित पाना है। तत्त्वमीमांसीय गति और प्रवृत्ति इसी मूल अभाव और अपर्याप्तता के स्रोत की खोज है। इस स्त्रोत की खोज में जगद्भावापन्न चैतन्य (मनुष्य) अपार अर्थ राशि का सृजन, अवगाहन और उसका अतिकमण करते हुए अपने मूल स्वरूप की ओर द्वितीयावर्तन करता है। यह द्वितीयावर्तन वास्तव में सत्कार्यात्मक नहीं बल्कि असत्कार्यात्मक अर्थ में आत्मोन्मुख निवर्तन है, जो चेतना के प्रत्यङ्.मुख व्यापार में घटित होता है। सृष्टि के इतिहास में चेतना की प्रत्यङ्. मुखता, जो मानवीय स्थिति की विलक्षण विशिष्टता है, एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है।

इस नव्य परिच्छेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'अतिक्रमण–शीलता', अर्थात् अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श–पर्येष्य रूप का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आक्षेप है। इसी के चलते मनुष्य सदैव अपने आदर्श से परिभाषित अस्तित्व रहता है। शल्यजी के अनुसार 'मैं हूँ यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भाव्यता की भी घोषणा है। यहाँ से ही सृजन की, आरोहण की, अनात्म से मुक्ति की, आत्मव्यवधान के निवारण की और अपने मूल स्वरूप की सिद्धि की यात्रा आरम्भ होती है। वस्तुतः शल्यजी के चिन्तन में प्रत्यङ्.मुख चेतना की जैसी गम्भीर और गहन विवेचना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन प्रत्यङ्.मुख चेतना के भाष्य, वार्तिक और अलंकार रूप विवेचना में ही फलित और प्रमाणित होता है। चैतन्य की मानुषी स्थिति में पराङ्.मुख और प्रत्यङ्.मुख नामक दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जाती है। विषयोन्मुख इन्द्रिय–वृत्ति में चेतना का अपने विषयों में निःशेष हो जाना, उसको समर्पित हो जाना, यह पराङ्.मुखता की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत प्रत्यङ्.मुखता आत्मोन्मुख अतिक्रमण के रूप में एक पूर्णतः मूलगामी घटना है। शल्यजी की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में यह मूलगामी आत्मोन्मुख अतिक्रमण विषय से उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं से उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों में और इन चिद्वृत्तियों से निरूपाधिक चैतन्य में अपनी पर्यन्तता को अधिगत करता है।

इस प्रकार यशदेव शल्य के लिए यह देख पाना सुकर हो जाता है कि यह चित् ही है जो दैहिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक और यहाँ तक कि अतिबौद्धिक प्रज्ञात्मक चेतना–वृत्तियों के रूप में प्रवर्तित होकर अपने लिए अर्थों (विषयों) को प्रस्तुत करता है, और जो अर्थ उसे परतया प्राप्त होते हैं। अर्थों की यह परता वास्तव में चित् की स्वकीय परता ही होती है। यह ज्ञान में उनकी अपूर्ण या सदोष ग्राह्यता तथा इष्टता–अनिष्टता से सिद्ध होता है। यह और भी स्पष्ट चेतना के आत्मचेतन रूप से होता है, जिसमें यह स्वयं आत्म को विषय रूप में असम्यक्तः ज्ञेय और अवांछित चित्तवृत्तियों के रूप में दुस्साध्य पाता है। आत्मा को 'जानने' और चित्तवृत्तियों का निरोध करने के यावत् परामर्श इसके प्रमाण हैं। अतएव हमारी सम्पूर्ण ज्ञान–साधना और पुरुषार्थ–साधना चित् के इस आत्मव्यवधान के निराकरण के, चित् की आत्मगवेषणा के प्रयत्न ही कहे जा सकते हैं। चित् का यह आत्म–व्यवहितत्व, उसका यह आत्मगत–आत्मेतरत्व कितना इतर, कितना मलों–कर्दमों से आलिप्त और भ्रान्तियों–भटकाओं का हेतु होता है, यह हम अपने सुदीर्घ पाशव इतिहास से और मानव–सभ्यताओं के इतिहास से देख सकते हैं। इसी के अन्तराल में चेतना क्रमशः जड़ से वानस्पतिक, वानस्पतिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से पाशव और पाशव से मानव के सोपान तक उठती और मनुष्य में सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सृजनात्मक तथा अनुसन्धानात्मक शिखरों की ओर पुरुषार्थ–साधना में प्रवृत्त दिखाई पड़ती है। चेतना का यह विकास वास्तव में उसका अपना ही आत्मविस्तार और सृजन है जो चेतना के इतिहास में स्वकीय आत्मव्यवधान के निवारण की दुस्साध्य और अन्तहीन साधना है। इस साधना की दुस्साध्यता और अन्तहीन होना ही चेतना के इतिहास का प्रकट रहस्य है। यशदेव शल्य के दर्शन में चेतना द्वारा इस साधना की दुस्साध्यता की आत्मचेतन आत्मगवेषणा ही उनके 'चिद्‌द्वैतवाद' का पार्यन्तिक स्वरूप और साथ ही साथ चेतना के आत्मव्यवधान के निवारण (मुक्ति) की पार्यन्तिक स्थिति है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना में यशदेव शल्य के सहयोगी रहे संगम लाल पाण्डेय (1929–2002) भी वेदान्त दर्शन के अपने समय के कट्‌टर अध्येता थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की समीक्षा कर 'डेथ्थ एपिस्टेमोलॉजी' की पुनर्रचना 'फिलॉसफ़ी ऑफ प्रयाग स्कूल' के रूप में की है। प्री–शंकर अद्वैतिक फिलॉसफी' (1974) एवं 'व्हीदर इण्डियसन फिलॉसफी' उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। डॉ. रामलाल सिंह द्वारा सम्पादित 'फिलासफिकल कॉन्ट्रीब्यूशन ऑफ प्रो. एस.एल. पाण्डेय' (2004) संगमलाल पाण्डेय के दार्शनिक अध्यवसाय के ओर–छोर को समझने के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के कतिपय विशिष्ट चिन्तकों में महात्मा गाँधी के पौत्र रामचन्द्र गाँधी (1937–2007) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से व्हाइटहेड की ज्ञानमीमांसा पर शोध–कार्य किया था और बाद में विश्वभारती, राजस्थान एवं हैदराबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे। अपनी वाग्मिता और विश्लेषण के लिए विख्यात् रामचन्द्र गाँधी की कृतियों में 'आई एम दाऊ' (1923, पुणे), जो रमण महर्षि पर केन्द्रित है, महत्त्वपूर्ण है। साथ ही साथ 'लैंग्वेज, ट्रेडीशन एण्ड माडर्न सिविलायजेशन' (सम्पा.), 'एवेवलिटी ऑफ रेलिजियस आइडियाज', प्रीसपोजिशन ऑफ ह्यूमन कम्युनिकेशन', 'स्वराज' और 'सीताज किचेन' जैसे छोटे–बड़े ग्रन्थ उनकी दार्शनिक परिकल्पनाओं को मूर्त्त रूप प्रदान करते हैं। रामचन्द्र गाँधी के ही समकालीन 'प्रतापचन्द्र' (1938–1991) जो सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे, वे भी बौद्ध दर्शन के सम्भाव्रनावान् अध्येता रहे। 'मेटाफिजिक्स ऑफ़ परपेचुअल चेंज' (1978) और 'दी हिन्दू माइण्ड' (1977) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

टी.एम.पी. महादेवन के पश्चात् 'मद्रास स्कूल ऑफ वेदान्त' के दूसरे महत्त्वपूर्ण अध्येता आर. बालसुब्रह्मण्यम् (ज. 1929) हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग में अद्वैत वेदान्त की उत्तरभारतीय अध्येतृता मुख्य रूप से 'भामती प्रस्थान' से सम्बन्धित रही है। सुरेश्वर के विवरण प्रस्थान को दक्षिण भारतीय अध्येताओं ने आधुनिक युग में आगे बढ़ाया है। आर. बालसुब्रह्मण्यम् भी 'विवरण प्रस्थान' के जाने–माने अध्येता हैं। मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर आधारित उनकी कृति 'अद्वैत वेदान्त' और सुरेश्वर के भाष्य–वार्तिक संवलित 'तैत्तिरीयोपनिषद्' तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धि' इत्यादि अंग्रेजी में किये गये अध्ययन बहुत ही प्रसादक हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन–विभाग से सम्बन्धित धर्मेन्द्र गोयल (ज. 1934) का आधुनिकोन्मुख चिन्तन भी यहाँ उल्लेखनीय है। इनके दार्शनिक अध्यवसाय के प्रमुख उत्पाद 'फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री' (1967), 'फिलॉसफी ऑफ सोशल चेंज' (1989) और 'भाषा दर्शन' (1991) हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा प्रकाशित (2012) इनकी कृति 'स्वतन्त्रता मूल्य और परम्परा' स्वातन्त्र्योत्तर भारत की समसामयिक चिन्ताओं पर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत करती हैं।

इस काल के एक महत्त्वपूर्ण और प्रतिबद्ध अध्येताओं में भुवनेश्वर के जी.सी. नायक (ज. 1935) का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इनके दार्शनिक अध्यवसाय में शंकर और नागार्जुन तथा कालिदास की कृतियों में अन्तरविष्ट दार्शनिक दृष्टियों का विश्लेषणात्मक विवेचन विशेष रूप से परिलक्षित होता है। नायक मूल रूप से शांकर वेदान्त के पारम्परिक अध्यवसायी हैं लेकिन शांकर वेदान्त की गहरी समझ को नागार्जुन के शून्यवाद को व्यावर्त्तक रूप में समझने के लिए उन्होंने जिस तरह उपयोग किया है, वह अपने आप में टी.आर.वी. मूर्त्ति की व्याख्या के समानान्तर खड़ा होता है। 'ईविल, कर्म एण्ड रीइन्कार्नेशन' (1973), 'ऐसेज़ इन एनालिटिकल फिलॉसफी' (1978), 'फिलासफिकल रिफलेक्शन्स' (1987), 'फिलॉसफिकल इन्टरप्राईज़ एण्ड द साइंटिफिक स्प्रिट' (1994), एवं 'माध्यमिक शून्यता' (2001) इत्यादि कृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

देखा जाये भारतीय ज्ञान–परम्परा अपने स्वरूप में एक सावयवी विचार–तंत्र है। इसीलिए भारतमूलीय ज्ञान की विभिन्न विधाओं को एक बारगी एक–दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। सभी प्रकार की विधायें यहाँ एक समग्र दृष्टि के अनुशयी होकर ही अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में फलवती होती हैं। स्वातंत्र्योत्त्र भारत में मुकुन्द लाठ भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार–तंत्र के इसी स्वरूप में गहरी पैठ रखने वाले अपने ढंग के अनोखे अध्येता, विचारक और सांस्कृतिक इतिहासकार हैं। इन्होंने साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्त और सौन्दर्यशास्त्र, तथा धर्म और दर्शन जैसे विषयों पर बहुआयामी लेखन करते हुए भारतीय ज्ञान–व्यवस्था के समग्रतावादी स्वरूप को मौलिक तरीके से उद्घाटित किया है। कलकत्ता के एक संभ्रान्त परिवार में जन्मे मुकुन्द लाठ (1937) अपनी प्रारम्भिक शिक्षा संत जेम्स स्कूल, कलकत्ता से 'सेनियर कैम्ब्रीज' के रूप में पूरा करने के उपरान्त उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में प्रतिष्ठा के साथ स्नातक की उपाधि (1956) दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। पुनः यादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता से संस्कृत भाषा एवं साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि (1965) प्राप्त कर वे पश्चिमी बर्लिन (1966–68) गये जहाँ उन्होंने तुलनात्मक संगीत अध्ययन संस्थान से सम्बद्ध होकर प्राचीन भारतीय संगीत से सम्बन्धित 'दत्तिलम्' नामक एक दुर्लभ ग्रन्थ पर कार्य किया। वस्तुतः इसी ग्रन्थ पर कार्य करते हुए मुकुन्द लाठ ने प्राचीन भारत में संगीत–चिन्तन और गान्धर्व विद्या के गहन अवधारणात्मक गुण–सूत्रों को आत्मसात् किया। इसी अध्ययन के आधार पर उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय से पी–एच्.डी. की उपाधि (1976) प्राप्त हुई। एक शोधप्रज्ञ अध्येता और प्रवक्ता के रूप में उन्होंने अपने संस्थागत अकादमिक जीवन की शुरूआत प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (1973) से किया और वहीं से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति (1997) प्राप्त कर मुकुन्द लाठ अपने चिन्तन–मनन और अध्यवसाय में अद्यतन निरत बने हुए हैं। ये न केवल शास्त्रीय संगीत के प्राचीनतम और अधुनातन रूपों के पारखी हैं बल्कि इन्होंने अपने संगीतशास्त्रीय स्वाध्याय को पण्डित मणिराम और पण्डित जसराज के साथ संगीत–साधना में भी रूपान्तरित किया है।

मुकुन्द लाठ के अध्यवसायी जीवन की फलश्रुतियाँ कई एक पुस्तकों के माध्यम से वाग्–विग्रहित हुई हैं। संगीत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं अवधारणात्मक अध्ययन में इनकी विशेष अभिरुचि रही है। इस क्षेत्र में 'ए स्टडी ऑफ दत्तिलम्'(1978), 'दिं हिन्दी पदावली ऑफ नामदेव' (1989), संगीत एवं चिन्तन (1992) तथा 'ट्रांसफार्मेशन एज क्रियेशन' (1998) मुकुन्द लाठ की उल्लेखनीय्र कृतियाँ हैं। भारत में आत्मकथा की प्राचीन शैली और परम्परा की खोज भी मुकुन्द लाठ की साहित्यिक अभिरुचि का विषय रहा है। इस विधा में उन्होंने कल्पसूत्र (1977) का अंग्रेजी अनुवाद किया है। कल्पसूत्र प्राकृत भाषा में वर्द्धमान महावीर की जीवनी है। इसके अतिरिक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'अर्द्धकथानक : हॉफ ए टेल' (1981) इनकी एक प्रसिद्ध कृति है जो बनारसीदास नामक 17वीं शताब्दी के एक जैन व्यापारी एवं साधक द्वारा आत्मालोचनपूर्वक हिन्दी में लिखी गई आत्मकथा के अध्ययन पर आधारित है। मुकुन्द लाठ एक कवि भी हैं और इनकी काव्य प्रतिभा 'स्वीकरण' (1991) तथा 'अनरहनी रहने दो' (2013) शीर्षक से प्रकाशित दो कविता संग्रहों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं। इन्होंने 'तीर रही वन की गंध' (1998) शीर्षक से कुछ प्राकृत कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी किया है। अनुवाद के क्षेत्र में इन्होंने 'वास्तुविद्या' (2004) नामक ग्रन्थ का भी अंग्रेजी अनुवाद किया है जो वास्तुशास्त्र सम्बन्धी 15वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। मुकुन्द लाठ यद्यपि दर्शन–परम्परा में दीक्षित व्यक्ति नहीं हैं फिर भी धर्म–नीतिपरक दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया है। 'धर्म–संकट' (2004), 'क्या है? क्या नहीं है?' (2009) और 'कर्म चेतना के आयाम' (2009) नामक पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन के एक ऐसे आयाम को उद्घाटित किया है, जिसमें वे सम्प्रति अकेले खड़े व्यक्ति हैं। वस्तुतः उपर्युक्त कृतियों के माध्यम से मुकुन्द लाठ की पहचान एक ऐसे सांस्कृतिक इतिहासकार के रूप में हुई है जो भारतीय वाङ्मय के अनछुए पहलुओं को अपने मौलिक विमर्श के साथ उजागर करते हैं। भारतीय कला–चिन्तन और कला–साधना के दुर्लभ पक्षों को उन्होंने अपने बहुविध राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्याख्यानों के माध्यम से बुद्धिजीवियों के बीच विमर्श का विषय बनाया है। उनके सारस्वत् तप को एक ओर बिड़ला फाउण्डेशन के 'शंकर पुरस्कार' (2000), मध्य–प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के 'नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान' (2003) एवं संगीत नाटक अकादमी सम्मान' (2008) से सम्मानित किया गया तो दूसरी ओर कला के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा उन्हें 'पद्मश्री सम्मान' (2010) भी प्रदान किया गया है।

संगीत–चिन्तन और धर्म–नीति विषयक भारतीय विमर्श मुकुन्द लाठ के अध्यवसाय के दो ऐसे विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं जहाँ उन्होंने ज्योतिरग्र और परिपृच्छाधर्मी होकर महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया है। संगीत जैसी साधना, जिसे शिल्प–मात्र समझा जाता है, ऐसा जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं, उसे विचार का दृष्टान्त बनाकर स्वयं संगीत में यह देखना कि उसमें भी कुछ ऐसा है जो विचार जैसा है, जो चिन्तन–धर्मी है – वस्तुतः भाव और बुद्धि में एक विशेष प्रकार की जुगलबंदी देखना है। मुकुन्द लाठ ने इस जुगलबंदी को अपने संगीतविषयक विमर्श में बड़े ही विस्तार से साधा है। यद्यपि भरत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से लेकर अभिनवगुप्त पर्यन्त कलाविषयक अवधारणात्मक चिन्तन की एक समृद्ध परम्परा रही है लेकिन इस पारम्परिक और शास्त्रीय विमर्श में नाट्यार्थ और काव्यार्थ को जितना केन्द्रीय स्थान प्राप्त हुआ है उतना संगीत को नहीं। संगीत को नाट्य का उपस्कारक एक अनुषंगी कला के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि आपाततः यह भी मान लिया गया कि संगीत में रस की भी निष्पत्ति नहीं होती। मुकुन्द लाठ की विशेषता यह है कि उन्होंने संगीत को कलात्मक स्वायत्तता प्रदान करते हुए विचार की उद्गृहीत भूमि पर न केवल उसे विमर्श का विषय बनाया है बल्कि यह भी प्रतिपादित किया है कि नाट्य आदि कलाओं की तरह संगीत में भी रस की निष्पत्ति होती है। संगीत की कलात्मक स्वायत्तता के लिए यह प्रतिपादन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः धुन, राग और आलाप के व्यूहबद्ध ताने–बाने में व्याकृत हुआ संगीत अपनी संरचना में भावचित्त के विमर्श का एक पूरा संसार अपने में समोये रहता है। संगीतविषयक परिपृच्छाधर्मी अध्यवसाय उसी संसार को, भावलोक को पुंखानुपुंख उद्घाटित करना है। इस उद्घाटन में राग और धुन, स्वर और शब्द तथा रस और सत्य संगीतशिल्प के घटक नहीं बल्कि संगीत–विचार के प्रत्यय बन जाते हैं और इस तरह संगीत–साधना के अन्दर ही संगीत–विचार वैसे ही व्याकृत होता है जैसे संगीत।

विचार और संगीत दोनों के मर्म शुद्ध बुद्धिगम्य तत्त्व हैं। प्रथम का मर्म प्रत्ययात्मक है तो दूसरे का शुद्ध धुन। संगीत में शुद्ध धुन ही प्रत्यय स्थानीय हो जाते हैं। ये प्रत्यय और धुनें व्यवहार लोक में उतरने पर अनेक रूपों और रागों में अभिव्यक्ति पाते हैं। अभिव्यक्ति की यह अनेकरूपता प्रत्यय और धुनों के चरितार्थन के लिए अनिवार्य होती है। चरितार्थन की इस विविधता में ही विचार और संगीत के तत्त्व अर्थ का विस्तार और अभिवृद्धि पाते हैं। अब संगीत के तत्त्व (राग और धुन) की बुद्धिगम्यता को सन्दर्भ बनाकर मुकुन्द लाठ भारतीय और पश्चिमी संगीत में मूलगामी अन्तर को प्रतिपादित करते हुए विचारधर्मी संगीत चिन्तन के लिए व्यापक अवकाश निर्मित कर ले जाते हैं। संगीत के स्वरूपविषयक पश्चिम की एक प्रवृत्ति ऐसी है कि बाख, बीथोवन आदि की रचनायें शुद्ध बुद्धि की विषय हैं। उनका प्रयोग जो हम कानों से सुनते हैं वह उनका 'शुद्ध' रूप नहीं है बल्कि शुद्ध रूप की छाया है। प्रयोग या व्यवहार में धुन का शुद्धबुद्धिगम्य 'परमार्थ' मलिन हो जाता है। मलिन ही नहीं, वह अनेकान्त भी हो जाता है। इस अनेकान्त का कारण यह है कि बाख या बीथोवन ने अपनी धुनें स्वरलिपि में बद्ध की हैं। इन स्वरलिपियों को प्रयोग में उतारते समय, उनको कर्णगोचर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप देते समय प्रयोगकर्त्ता को उसे अपनी पकड़ से निभाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में स्वरलिपि को अपनी तरह से समझकर अपनी तरह से उसका व्यवहार करना पड़ता है। पश्चिम में संगीतकर्मियों का ऐसा भी सम्प्रदाय है जो इस प्रायौगिक निभाव को विकार समझते हैं और इसलिए बाख–बीथोवन को सुनने की अपेक्षा रचित स्वरलिपि को पढ़ना अधिक उचित समझते हैं। ऐसा करते हुए वे अपने को शुद्ध प्रतिभा–ग्राह्य धुन के अधिक निकट पाते हैं जो वास्तव में संगीत का शुद्ध–बुद्धि–गोचर परमार्थ है।

अब यहाँ मुकुन्द लाठ के लिए यह देखना सम्भव हो जाता है कि पश्चिमी संगीत अपने स्वरूप में ही किस प्रकार एक प्लेटो जैसी तत्त्वदृष्टि को अपने में समोये हुए है। वह यह कि प्रतिभा–दृष्ट वस्तु का शुद्ध, अविकृत स्वभाव उसके व्यवहृत रूप में नहीं होता बल्कि एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत् में होता है जो शुद्ध बुद्धिगम्य है। परन्तु मुकुन्द लाठ की विचारधर्मिता यहीं विश्रान्त नहीं होती। वे भारतीय संगीत में निहित तत्त्वदृष्टि को भी उतनी ही मूलगामिता से पकड़ते हैं। भारतीय परम्परा में 'साम' भी एक तरह से धुन ही है और इस धुन का सम्बन्ध भी लोकोतीर्ण प्रतिभा–दृष्ट परमार्थ से है। परन्तु यह परमार्थ प्लेटो का परमार्थ नहीं जो विकृत और छाया रूप से ही व्यवहार में अवतरित हो सकता है। साम धुन की किसी निरिन्द्रिय निर्धारित वस्तु–रूप में कल्पना नहीं है। यद्यपि साम दृष्ट है, आर्ष है, किसी उर्ध्व 'सत्य' की प्रज्ञालब्ध अभिव्यक्ति है। यह इन्द्रिय–बोध मात्र की दृष्ट या लौकिक उपलब्धि नहीं। परन्तु धुन रूप में उसका स्वरूप किसी इन्द्रियातीत बुद्धि जगत् की वस्तु नहीं है। ऐसा भी नहीं कि साम किसी अतिक्रामी लोक में ही निर्विकार रहता हो और यहाँ इस लोक में विकृत रूप में ही प्रकट हो सकता है। साम अपने इन्द्रियग्राह्य रूप में ही ऋषि दृष्ट है। ऋक् मंत्रों की अक्षरयोजना जैसे अपने शब्द रूप में ही आर्ष है वैसे ही साम अपने स्वर रूप में ही, स्वरानुक्रमी स्वर–योजना में ही श्रुति है। साम किसी अतीन्द्रिय लोक में साम नहीं होता बल्कि जिसे हम गाते हैं, सुनते हैं, वही साम है। होने को तो स्वरलिपि का आधार साम में भी होता है परन्तु साम के लिए लिपि सहायक है उसके संरक्षण के लिए, स्वरलिपि ही उसका मूल–रूप नहीं है, जैसा कि बाख–बीथोवन में है। पश्चिम में संगीत और लिपि का सम्बन्ध भाषा और लिपि जैसा ही है लेकिन भारतीय परम्परा में संगीत के विदग्धतम शास्त्रीय रूप में आलाप ही प्रधान है। इस तरह कहा जा सकता है कि मुकुन्द लाठ का संगीत–विमर्श संगीत के तत्त्व और विभिन्न संस्कृतियों में अभिव्यक्त उसके विविध रूप–कलापों, उनके अन्तर्सम्बन्धों तथा संगीतशास्त्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को अन्य विचारधर्मी शास्त्र परम्पराओं के साथ अन्तःपदीय सम्बन्ध में रखते हुए एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में संगीत को विचार का विषय बनाता है।

मुकुन्द लाठ के अध्यवसाय का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र उनका धर्म–नीतिविषयक चिन्तन है। इस क्षेत्र में उन्होंने भारतीय नीतिमीमांसा के गहन गुण–सूत्रों को उद्घाटित करते हुए उसका बिलकुल अभिनव तरीके से आलोचनात्मक अनुशीलन किया है। उनका यह अनुशीलन शास्त्र–परम्परा के अन्दर से उद्भूत हुआ विमर्श है लेकिन इस विमर्श में शास्त्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है बल्कि विचार की स्वकीय भूमि पर शास्त्र को उद्गृहीत कर उसे एक नया सौष्ठव प्रदान किया गया है। भारतीय नीति–चिन्तन के प्रति एक बात जो प्रायः आलोचनात्मक स्वर में कही जाती है वह यह कि भारत में विधि–निषेधमूलक और आचार–संहितपरक नैतिक चिन्तन का तो समृद्ध इतिहास रहा है परन्तु यहाँ नैतिक–दार्शनिक चिन्तन उस रूप से व्यवस्थित रूप में नहीं हुआ है जितना कि व्यवस्थित रूप में इस प्रकार का चिन्तन ग्रीक दार्शनिकों और आधुनिक पाश्चात्य नैतिक चिन्तकों ने किया है। पुनः भारत में यद्यपि तत्त्वचिन्तन बहुत उत्कृष्ट कोटि का और व्यवस्थित रूप में हुआ है लेकिन स्वायत्त रूप में नैतिक दार्शनिक चिन्तन उस प्रकार से नहीं हुआ है। मुकुन्द लाठ के धर्म–नीतिविषयक चिन्तन की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने भारतीय तत्त्वचिन्तन जो मूलगामी रूप से मनुष्य के पारमार्थिक स्वरूप से सम्बन्धित है, उसी का अवलम्ब लेकर उसी से अनुप्राणित भारतीय नीति के प्रवृत्तिमूलक व्यवहार–सौकर्य का गहन विश्लेषण उसके सम्भव सभी निष्पत्तियों के साथ की है। आत्मचेतन हुई चेतना के जगद्भाव में ही कर्तृत्व–भोक्तृत्व, व्यष्टि–समष्टि, स्वार्थ–परार्थ के बीच श्रेय–प्रेय, हेय–उपादेय, औचित्य–अनौचित्य और प्रवृत्ति–निवृत्ति का प्रश्न सार्थक रूप से उपस्थापित होता है। परन्तु ऐसे प्रश्न अपने आपमें इतने बड़े परिप्रेक्ष्य को लिये रहते हैं कि 'किं कर्म किमकर्मेति' का विवेक और निर्धारण अक्सर ही 'धर्मसंकट' जैसी स्थिति में पर्यवसित हो जाता है। गीता में 'कवयोऽप्यत्र मोहिता' और 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' तथा 'कर्मणा गहनो गतिः' कहते हुए इस स्थिति को संकेतित भी किया गया है। मुकुन्द लाठ ने ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों, नीति ग्रन्थों तथा उपनिषद्, गीता, महाभारत और रामायणादि में यत्र–तत्र बिखरे हुए एतद्विषयक संवेदनशील अर्थ–गर्भ सन्दर्भों एवं उपाख्यानों को स्वयं की अवधारणात्मक योजना और स्वयं की पदावली में ग्रथित करते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुए आत्म प्रकाशित धर्मबोध में मूलित 'औचित्य मीमांसा' के एक सम्पूर्ण तंत्र को पुनर्गठित किया है। मुकुन्द लाठ ने यद्यपि अपनी 'औचित्य मीमांसा' को विशुद्ध भारतीय भूमि पर खड़ा किया है तथापि उन्होंने सांस्कृतिक तटस्थता बरतने का हर सम्भव प्रयास भी किया है और इस कारण उनका 'औचित्यविमर्श' मानवोचित सार्वभौमिकता को लिये हुए है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अद्वैत वेदान्त के अध्ययन–अध्यापन के क्षेत्र में "वेदार्थ पारिजात" जैसे महाग्रन्थ के रचयिता, और आधुनिक शंकर कहे जाने वाले स्वामी करपात्री जी एवं टी.आर.वी. मूर्त्ति की शिष्य परम्परा में अधीत रेवती रमण पाण्डेय (1942–2004) का नाम भी वैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों में लिया जाता है जिन्होंने प्रतिबद्ध युवा अध्येताओं की एक टोली का निर्माण किया है। 'मैन एण्ड द यूनीवर्स', 'साइंटिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त', 'अमृतस्य पुत्राः' (एन अद्वैतिक एनकाउण्टर विथ ग्लोबलिज़्म एण्ड पोस्ट माडर्निज़्म) तथा 'समग्र योग' इत्यादि कृतियाँ रेवती रमण पाण्डेय के दार्शनिक अध्यवसाय के बहुविध आयामों को प्रस्तुत करती हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा प्रकाशित' वेदान्त दर्शन के आयाम (2013) नामक ग्रंथ जो प्रो. पाण्डेय की स्मृति में प्रकाशित किया गया है, प्रो. पाण्डेय के दार्शनिक योगदानों की अच्छी रूप–रेखा प्रस्तुत करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन का इतिवृत्त लिखते हुए अब हम लोग इस पड़ाव पर पहुँच रहे हैं जहाँ हममें से किसी एक (एस.पी. दुबे, 1943–2013) को इस इतिहास का द्रष्टा और उसका दृश्य भी बनना पड़ रहा है। "सचमुच यह मेरे लिए धर्म–संकट से कम नहीं कि मैं स्वयं ही इस इतिवृत्त में अपनी प्रस्थिति और भूमिका को रेखांकित करूँ। मुझे मेरे मित्र और सहचर धर्मदर्शन का विशेषज्ञ मानते हैं। मैं नहीं जानता कि यह मेरे ऊपर कितना लागू होता है लेकिन मैकमास्टर विश्वविद्यालय, कैनाडा में उच्च अध्ययन के दौरान मैंने धर्मविज्ञान पद्धति से रूडोल्फ आटो और हिन्दूइज़्म का अध्ययन (1966–1968) किया था जो 'रूडोल्फ आटो एण्ड हिन्दूइज़्म' शीर्षक से 1969 में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मविज्ञान सम्बन्धी अपने अध्यवसाय को मैंने 'ऑन रेलिजन' (1998) नामक पुस्तक में सँजोया है। मेरी अन्य पुस्तकें 'ग्रीक फिलॉसफी' (1973 बर्नेट की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), 'आइडियलिज़्म ईस्ट एण्ड वेस्ट' (1987) तथा चार भागों में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् से (1994–96–98) प्रकाशित फैसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी' (सम्पा.) हैं।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महज इसे एक संयोग ही कहिये कि इस इतिवृत्त में 20वीं शताब्दी की अर्द्धशती के जन्मांक वाले दार्शनिकों, अध्येताओं का एक युग एस.पी. दुबे के ही सन्दर्भन से पूरा हो रहा है और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने उन्हें सम्मानित करने के लिए 'दर्शन के आयाम' (2012) और 'डायमेन्शन्स ऑफ फिलॉसफी' (2012) प्रकाशित किया है। इन दोनों ग्रन्थों में इस देश के सम्प्रति सक्रिय लगभग 100 से अधिक अध्येताओं के ने अपनी विशेषज्ञता और रुचि के अनुरूप लेखन किया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इतिवृत्त में ये दोनों ग्रन्थ इसलिए उल्लेखनीय हो जाते हैं कि इससे 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दार्शनिक अध्यवसाय की एक झलक मिल जाती है।

IV

इतिहास वैसे ही व्यक्तियों को सन्दर्भित करता है जो या तो पूरी परम्परा को या फिर किसी सम्प्रदाय विशेष को अपने अध्यवसाय से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करते हैं। ऊपर हमने अपने अनुभव के आधार पर कुछ ऐसे ही प्रयासों का यथासम्भव उल्लेख किया है। अब हम यहाँ कुछ दूसरे प्रकार के प्रयासों को सन्दर्भित करना चाहेंगे जो किसी न किसी रूप में इस देश में दार्शनिक चिन्तन की निरन्तरता और समृद्धि को बनाये रखने और उनके संरक्षण में सहयोगी रहे हैं।

इस देश में देशभाषा अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दर्शनशास्त्र के पठन–पाठन की प्राचीन परम्परा रही है। यह समझ लेना सर्वथा एक भूल है कि अंग्रेजी ही दार्शनिक चिन्तन–मनन के लिए एकमात्र सशक्त भाषा है। परदेशी भाषा में स्वदेशी चिन्तन करने से उसके स्वारस्य में जो अवचेतन विकार उत्पन्न होता है, उसे तत्काल समझना कठिन होता है। यह तो बहुत बाद में समझ में आता है कि दूसरी भाषा ने विचारों की निजता को ही अपहृत कर लिया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का यह वचन इस बात का प्रमाण है कि यहाँ प्राचीनकाल में भी क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन–मनन होता रहा है – संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरूः स्मृतः।। इस दृष्टि से वी.एम. वेडेकर (पुणे) की 'फिलॉसफी इन फिफ्टीन माडर्न इण्डियन लैंग्वेजेज़' (1979) नामक पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में उन्होंने, संक्षेप में ही सही, आसामी, बंग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, काश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिन्धी, तमिल और तेलगु इत्यादि भाषाओं के माध्यम से हुए दार्शनिक लेखन का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय दर्शन पर विश्वकोशीय लेखन को लेकर चार महत्त्वपूर्ण प्रयास सामने आये हैं। इसमें पहला प्रयास अमेरिका निवासी कार्ल एच. पॉट्टर का है। इन्होंने 23 भागों में 'इनसाईक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' प्रकाशित करने की महत्त्वाकांक्षी योजना 1968 में बनाई थी। इस विश्वकोश के प्रथम तीन भाग भारतीय दार्शनिक साहित्य (प्राचीन, अर्वाचीन एवं आधुनिक पीरियोडीकल लेखन) पर आधारित अत्यन्त व्यापक बिब्लियोग्राफी हैं जिसे उन्होंने स्वयं ही बनाई है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के सहयोग से इस विश्वकोश के कई एक खण्ड मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन है। इस विश्वकोश का निर्माण कर कार्ल एच. पॉट्टर ने भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक सेवा की है। वे स्वयं भी भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ और परिष्कर्त्ता विद्वान् हैं।

इस क्षेत्र में दूसरा प्रयास ,'इण्डिया हैरिटेज फाउण्डेशन' के द्वारा 1980 के दशक में किया गया और पूर्वी–पश्चिमी विद्वानों के सहयोग से ग्यारह भागों में 'इनसाईक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूइज़्म' तैयार किया गया है। कैलिफोर्निया के के.एल. शेषगिरि राव इसके प्रधान सम्पादक हैं और दिल्ली के प्रो. कपिल कपूर इसके सम्पादक हैं। इसका प्रकाशन 2011 में ही 'रूपा एण्ड कम्पनी' से हुआ है।

इन दोनों प्रयासों से भिन्न अपने ढंग का एक अनोखा 'भारतीय दर्शन बृहत्कोश' का निर्माण 1980 के दशक में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से दर्शन–विभाग, सागर विश्वविद्यालय, के द्वारा कराया गया था। अर्जुन मिश्र जो स्वयं ही व्याकरण दर्शन के अच्छे ज्ञाता रहे, इसके निदेशक थे और शास्त्रपुरुष पं. बच्चूलाल अवस्थी इसके एकमात्र शोध–कर्त्ता और लेखक थे। इस बृहत्कोश के कई भाग शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन हैं। भारतीय दर्शनों के आकर (मूल संस्कृत) सन्दर्भों के आधार पर हिन्दी में यह मूलानुगत कोश अपनी प्रामाणिकता और विस्तार में विश्वकोशीय आकार का है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन विश्वकोशीय लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ा और सर्वाधिक प्रामाणिक प्रयास डी.पी. चट्टोपाध्याय (ज. 1931) के नेतृत्व में 'प्रोजेक्ट ऑफ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन साइन्स, फिलॉसफी एण्ड कल्चर' के तहत् किया गया है। समस्त भारतीय बौद्धिक सम्पदाओं को एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में समाहित करने वाले इस महान् परियोजना की शुरूआत भारत सरकार के सौजन्य से भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के तत्त्वावधान में 1980 के दशक में की गई थी। बाद में 'सभ्यता अध्ययन केन्द्र' नामक एक स्वतन्त्र निकाय के द्वारा 115 खण्डों में प्रकाश्य यह परियोजना पूर्ण होने को है। इसके 90 खण्डों का प्रकाशन हो चुका है और शेष प्रक्रियाधीन है। आंग्ल भाषा में भारतमूलीय ज्ञान के समस्त विधाओं के ओर–छोर को अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने वाला ऐसा कोई दूसरा प्रयास स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नहीं हुआ है। विशुद्ध भारतीय विद्वानों के सहयोग और उनकी प्रतिभा का एतदर्थ क्रियान्वयन करते हुए भारतीय वाङ्.मय का इतना विशालकाय वाग्विग्रह बनाने में डी.पी. चट्टोपाध्याय ने जो समन्वयक (योजकस्तत्र दुलर्भः) की जो भूमिका निभाई है, उसके लिए वे पीढ़ी–दर–पीढ़ी याद किये जायेंगे। यह कालजयी प्रयास औपनिवेशिक मनोवृत्ति के उस दुराग्रह को सिरे से खारिज करता है कि ज्ञान की सारी जड़ें पश्चिम में हैं और यह कि भारतीय सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व–सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। वास्तव में हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान पश्चिम के समानान्तर ही उन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ पहुँचे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास भी उनसे प्रतिबद्ध अध्येताओं द्वारा हुआ है। यहाँ मेरा अभिप्राय वैसे दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास को रेखांकित करने से है जो किन्हीं कारणों से भारतीय परम्परा के अंगभूत होते हुए भी नवजागरण काल और स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी मुख्य धारा से अलग–थलग पड़ गये थे। द्रष्टव्य है कि भारत में मुगलकाल से लेकर ब्रिटिश राज तक भारत की प्राचीनकालीन और अद्यतन जीवन्त बौद्धिक परम्पराओं को अवरुद्ध करने के अनेकों प्रयास किये गये। फिर भी जान–बूझ कर किये गये इस अवरोध के विरुद्ध यहाँ वेदान्त दर्शन की परम्परा स्वराज के दर्शन के रूप में समय–समय पर अनेक रूपों को अवाप्त कर जीवन्त बनी रही और भारत की सांस्कृतिक चेतना तथा बाद में राजनीतिक स्वाधीनता के संघर्ष को वैचारिक आधार प्रदान किया। फलस्वरूप आधुनिक युग में वेदान्त इस देश में दर्शन की मुख्य धारा बन गया और अन्य कुछ प्राचीन दर्शन धारायें अलग–थलक पड़ गईं। उदाहरण के तौर पर श्रमण परम्परा की दो मुख्य धाराओं में बौद्ध दर्शन तो गतिशील रहा लेकिन जैन दर्शन के क्षेत्र में वैसी गतिशीलता नहीं दिखाई पड़ी। स्वातन्त्र्योत्तर काल में एक ओर जैन धर्म के अनुयायियों में अपनी धार्मिक पहचान को लेकर जागरूकता बढ़ी तो दूसरी ओर उसके दार्शनिक पक्ष को भी मुख्य धारा में लाने हेतु कुछ संस्थागत और वैयक्तिक प्रयास हुए। जैन दर्शन के आधुनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन्नयन में एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ और भोगीलाल जैन इन्स्टीट्यूट, दिल्ली ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन संस्थानों से जुड़े महत्त्वपूर्ण जैन अध्येताओं में महेन्द्र कुमार जैन, नाथमल टाटिया, दलसुख भाई मलवाणियां, नगिन जे. शाह और सम्प्रति सागरमल जैन, एम.आर. गेरला, सोहनराज तातेड़, रज्जन कुमार, राजवीर सिंह शेखावत और अनेकान्त कुमार जैन इत्यादि प्रमुख रहे हैं।

सांख्य–योग दर्शन जो भारत की प्राचीनतम दर्शन परम्परा रही है, उसका भी विकास स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न अध्येताओं द्वारा हुआ। 'मुंगेर स्कूल ऑफ योग' द्वारा तो इस विद्या का आधुनिक पुनराविष्कार किया जा रहा है। सांख्य–योग दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में रामशंकर भट्टाचार्य (वाराणसी), हरिहरानन्द आरण्य (कलकत्ता) और सम्प्रति बी. कामेश्वर राव (रायपुर), दीनानाथ पाण्डेय (वाराणसी), कृपाशंकर (वाराणसी), विमला कर्णाटक (वाराणसी), एस.पी. सिंह (अलीगढ़) और योगी मुकेश (दिल्ली) तथा राजेश्वर सिंह (मुजफ्फरपुर) इत्यादि उल्लेखनीय नाम हैं।

इसी तरह आगमिक परम्परा के शैव दर्शन एवं काशमीर शैव दर्शन भी भारत की समृद्ध दर्शन धाराएँ रही हैं लेकिन इनका भी विकास और सांस्कृतिक स्वीकरण उस तरह से नहीं हुआ प्रतीत होता है जैसा कि वेदान्त के अन्य अद्वैतवादी दर्शनों का हुआ। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में कुछ अत्यन्त मेधावी और साधक प्रकृति के प्रतिबद्ध अध्येताओं के द्वारा इन दर्शनों का अच्छा प्रचार–प्रसार हुआ है। ऐसे साधक प्रकृति के अध्येताओं में प्रथम दृष्टया महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज एवं पण्डित रामेश्वर झा तथा लक्ष्मण जू का नाम आता है। स्वतन्त्रता पूर्व इन तीनों आचार्यों को उपस्थापक आचार्य कहा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही महाराजा हरिसिंह (काश्मीर दरबार) द्वारा 'काश्मीर सीरीज़ ऑफ टेक्स्ट एण्ड स्टडीज़' की स्थापना और दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन भी शैव परम्परा के उन्नयन के प्रति एक महत्त्वपूर्ण संस्थागत पहल था। शैव एवं काश्मीर शैव दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में के.सी. पाण्डेय, आर.के. काव, वी.एन. पण्डित और वर्तमान में सर्वाधिक सक्रिय नवजीवन रस्तोगी, कमलेश दत्त त्रिपाठी, लक्ष्मीनिधि शर्मा, कमलाकर मिश्र एवं ब्रज वल्लभ द्विवेदी इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं कि काशमीर शैव दर्शन की छाया में भरतमुनि, अभिनवगुप्त एवं रसशास्त्र को लेकर स्वातन्त्र्योत्तर युग में 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' को स्वायत्त स्वरूप प्रदान करने का एक पुरोगामी प्रयास हुआ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। भारत में सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, के.सी. पाण्डेय, सुरेन्द्र बारलिंगे, पद्मविभूषण एस.के. सक्सेना, आर.एन. मुखर्जी एवं गोविन्द चन्द पाण्डे इत्यादि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के संस्थापक अध्येता रहे हैं। नये लोगों में राधावल्लभ त्रिपाठी (सागर), रंजन घोष (दिल्ली), रेखा झाँझी (चण्डीगढ़), विष्णुदत्त पाण्डेय (वाराणसी) और रजनीश कुमार शुक्ल (वाराणसी) को भारत के उदीयमान सौन्दर्यशास्त्रियों में परिगणित किया जा सकता है।

भारत में पहली शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी पर्यन्त न्यायदर्शन का विकास एकरेखीय और अविच्छिन्न रूप में हुआ है। बौद्ध पूर्वपक्ष की शिथिलता के कारण इस दर्शन के विकास की गति भी धीमी पड़ी लेकिन स्वतंत्रता से पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल में विशेषकर मिथिला और बंगाल में इस दर्शन के स्वाध्याय और अध्यवसाय की जीवन्त परम्परा बनी रही। बंगाल मूल के अध्येताओं में फणिभूषण तर्कवागीश, दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, सितांशु शेखर बागची, अनन्त लाल ठाकुर, वी.के. मतिलाल, जे.एन. मोहन्ती, शिवजीवन भट्टाचार्य तथा 'यद बुद्धया यदुत्पन्नं तन्न्यायमतम्' को अपने अध्यवसाय से सर्वथा चरितार्थ करने वाले पी.के. मुखेपाध्याय इत्यादि बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। मिथिला मूल के अध्येताओं में बालकृष्ण मिश्र, महाप्रभु लाल गोस्वामी, शशिनाथ झा, कविशेखर, बद्रीनाथ झा, खड्गनाथ मिश्र, दुर्गाधर झा, आनन्द झा एवं किशोरनाथ झा प्रमुखता से सन्दर्भित किए जा सकते हैं। न्याय दर्शन के कुछ अन्य वरिष्ठ–कनिष्ठ अध्येताओं में बदरीनाथ शुक्ल, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, बलिराम शुक्ल, विश्वम्भर पाही, वी.एन. झा, रघुनाथ घोष एवं सम्प्रति उदीयमान नैयायिक के रूप में सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी) एवं अरुण मिश्र (मिथिला) तथा राजाराम शुक्ल (वाराणसी) का उल्लेख किया जाना उचित प्रतीत होता है।

अब जहाँ तक 'मीमांसा दर्शन' का प्रश्न है तो आज इसकी स्थिति संग्रहालय में पड़ी किसी प्राचीन धरोहर की तरह हो गई है। इसका साहित्य अपने आप में एक वाङ्मय की तरह है लेकिन उसके अधिकांश भाग कर्मकाण्ड और यंज्ञ–याजन से सम्बन्धित हैं। आधुनिक जीवन शैली में न तो उनका अनुप्रयोग सम्भव है और न ही वे प्रयोजनीय ही रह गये हैं। इसके बावजूद भी इस शास्त्र के शासन को धर्म की तरह अंगीकार करने वाले कुछ एक दाक्षिणात्य विद्वान् हैं जो इसके आजीवन अध्यवसाय को निष्ठा का विषय समझते हैं। पूर्वमीमांसा के दार्शनिक पक्षों को भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में लाने के भगीरथ प्रयास गंगानाथ झा (1871–1941) और युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा किया गया और दोनों ने इससे सम्बन्धित अनेकों दार्शनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्त्व के ग्रन्थों को अंग्रेजी एवं हिन्दी में अनूदित किया लेकिन बाद में उनके प्रयासों को कोई योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं हुए। आज मीमांसा दर्शन की यदि कहीं चर्चा भी होती है तो केवल भारतीय भाषा दर्शन के क्षेत्र में और वह भी अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद तक सीमित है। भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी मीमांसा दर्शन की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है लेकिन गोवर्धन भट्ट कृत 'द बेसिक वेज़ ऑफ नोविंग' (1962), के अतिरिक्त इधर कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में नहीं हुआ है। 20वीं शताब्दी में के.एल. सरकार (लेक्चर्स ऑन मीमांसा थ्योरी ऑफ इन्टरप्रेटेशन – 1913) और काशी प्रसाद सक्सेना (मीमांसा रूल्स ऑफ इन्टरप्रेटेशन –1941) ने 'मीमांसा सम्मत निर्णय पद्धति' को विधिक निर्णय हेतु उपयोगी दिखाया है लेकिन उसे भी अन्ततः विधिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई।

इतिहास की कालगति में जब कोई विचारधारा बहुत प्रभावी हो जाती है तो उसके समानान्तर अन्य और आनुषंगी विचार हाशिये पर चले जाते हैं। इस देश में अद्वैत वेदान्त की चूड़ान्त दार्शनिक प्रतिष्ठा और व्यापक सांस्कृतिक स्वीकरण के चलते वैष्णव वेदान्त के विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती और माध्वीय सम्प्रदायों के साथ ऐसा ही हुआ, जबकि भक्ति आन्दोलन के काल में इन दर्शनों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए जबरदस्त प्रतिरोधी भूमिका निभाई थी। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में कुछ एक अत्यन्त निष्ठावान विद्वानों द्वारा इन दार्शनिक सम्प्रदायों को उज्जीवन प्राप्त हुआ है।

शुद्धाद्वैती वाल्लभ वेदान्त को आधुनिक युग में पुनर्जीवित करने का इतिहास मुम्बई निवासी एम.पी. तेलीवाला से प्रारम्भ होता है। ये पेशे से वकील थे और अपने जीवन के मात्र 36 वर्षों में उन्होंने अकेले दम पर शुद्धाद्वैती दार्शनिक साहित्यों का विपुल सम्पादन–प्रकाशन किया था। उसके पश्चात् वल्लभाचार्य की 16वीं पीढ़ी के उत्तराधिकारी श्याम मनोहर गोस्वामी (ज. 1940) का प्रयास ऐतिहासिक और युगान्तकारी रहा है। 20वीं–21वीं शताब्दी में शुद्धाद्वैती दार्शनिक वाड्.मय और पुष्टिभक्ति साधना प्रणाली से सम्बन्धित आकर ग्रन्थों और परवर्ती प्रकरणात्मक लेखों का विपुल सम्पादन एवं प्रकाशन कर उन्होंने वाल्लभ वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने में उपष्टम्भक की भूमिका निभाई है। सम्प्रति गोस्वामी श्याम मनोहर समस्त भारतीय दर्शनों के आर–पार के निष्णात विद्वान् हैं और साथ ही साथ पाश्चात्य दर्शनों एवं विज्ञान दर्शन में भी इनकी अच्छी पकड़ है। इनके प्रभूत लेखन और व्याख्यान से शुद्धाद्वैत की उस आधारिक संरचना का उद्घाटन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है जो सर्ववादानवसर और नानावादानुरोधी है तथा श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के माध्यम से विकसित हुई 'एकमेवाद्वितीयम्' की ब्रह्मवादी विचार–परम्परा की अभिधा है। गोस्वामी श्याम मनोहर के केवल दो ग्रन्थों यथा 'वाल्लभ वेदान्त निबन्धावली' और 'साकार ब्रह्मवाद' (अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से चिन्तन–सृजन–ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित, 2010) में उनकी शुद्धाद्वैती प्रतिभा का प्राकट्य देखा जा सकता है। वाल्लभ वेदान्त के अन्य आधुनिक अध्येताओं में काशी के केदारनाथ मिश्र (1935–1999) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। 'तत्त्वार्थ दीप निबन्ध : स्नेह प्रपुरणी हिन्दी टीका' (1971), 'विद्वत्मण्डन समीक्षा' (1996) तथा 'अणुभाष्य समीक्षा' (1986) इत्यादि उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

इसी तरह दक्षिण भारत में रामानुज वेदान्त और माध्व वेदान्त के अध्ययन–अध्यापन की आज भी एक जीवन्त परम्परा है। बंगलोर स्थित 'उत्तरादिमठ' के प्रयासों से माध्व वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने के हर सम्भव प्रयास प्रतिबद्ध रूप से किये गये हैं। इस परम्परा के कतिपय वरिष्ठ–कनिष्ठ प्रतिनिधि अध्येताओं में माध्व वेदान्त से सम्बन्धित – सत्यप्रमोद तीर्थ, प्रह्लादाचार्य, के.टी. पाण्डुरंगी तथा युवा अध्येताओं में श्रीनिवास बरखेड़ी एवं वीरनारायण पाण्डुरंगी उल्लेखनीय हैं। रामानुज वेदान्त के सम्प्रति सक्रिय अध्येताओं में रामानुज ताताचार्य, एस.एम. श्रीनिवासाचारी, और के. ई. देवनाथन का नाम प्रमुखता के साथ लिया जा सकता है। इस प्रसंग में रामानुज सम्प्रदाय के दो अधिष्ठातृ प्रतिभा के अध्येताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। ये हैं, उत्तमुर वीरराघवाचार्य और परकाल मठाधीश। मैसूर के परकाल मठाधीश ने तो केवल दो हजार पृष्ठों में श्रीभाष्य की भूमिका लिखी है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में वेदान्त की विचारधारा से ही सम्बन्धित कुछ नवीन आनुषंगिक प्रवृत्तियों का भी न्यूनाधिक रूप में विकास हुआ है। उदाहरण के तौर पर स्वामीनारायण सम्प्रदाय ने अपने को वेदान्त का एक स्वतन्त्र–प्रस्थान सिद्ध करने के लिए 21वीं सदी में 'ब्रह्मसूत्र स्वामी–नारायणभाष्यम्' (2009) और 'उपनिषद् स्वामीनारायणभाष्यम्' का प्रणयन किया है। ये दोनों नवीन भाष्य साधु भद्रेश दास (ज. 1966) द्वारा प्रणीत हुए हैं। 'साधु श्रुतिप्रकाश' इस सम्प्रदाय के नवोदित अध्येता हैं जिनके लेखन से स्वामीनारायण वेदान्त अपनी स्वायत्तता में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसके अतिरिक्त वेदान्त की भावधारा से सम्बन्धित कतिपय एकदेशीय देशज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रवृत्तियों का भी स्वतन्त्रता के बाद के दिनों में खूब प्रचार–प्रसार हुआ है। इनमें महामति प्राणनाथ का जागनी सम्प्रदाय, श्रीराम शर्मा आचार्य का वैदिक विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन, उड़ीसा में विकसित हो रहे 'महिमाद्वैत सम्प्रदाय' और पारनेर, महाराष्ट्र में विकासमान रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेकर (1916–1980) प्रणीत 'पूर्णवाद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ तो क्षेत्रीयं सामाजिक आन्दोलन का रूप ले चुके हैं।

उपर्युक्त हाशिये पर चले गये कतिपय भारतीय दर्शनों के सम्प्रदाय केन्द्रित विकास के अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारतीय भाषा दर्शन को विकसित करने में एक विशेष प्रकार की अकादमिक जागरूकता दिखाई पड़ती है। पश्चिम के लिए भाषा दर्शन भले ही एक अर्वाचीन दार्शनिक अध्यवसाय का विषय बना हो लेकिन भारत के लिए यह बहुत पुरातन दार्शनिक विमर्श का विषय रहा है। तब भी इसमें कोई दो राय नहीं कि पश्चिम की भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय अध्येताओं को भारतीय भाषा दर्शन के क्षेत्र में पहल करने की प्रेरणा मिली। इसके परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर काल में व्याकरण दर्शन का बहुत विकास हुआ और भर्तृहरि, दिङ्.नाग इत्यादि को इस क्षेत्र में विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाले नये–पुराने अध्येताओं में के.ए.एस. अय्यर (भर्तृहरि), गौरीनाथ शास्त्री (फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग, 1959), के.के. राजा (इण्डियन थ्योरीज़ ऑफ मीनिंग, 1963), आर.सी. पाण्डेय (प्रॉब्लेम्स ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलॉसफी, 1969), विमलकृष्ण मतिलाल (दी वर्ड एण्ड दी वर्ल्ड), पी.के. मुखोपाध्याय (न्याय थ्योरी ऑफ लिंग्विस्टिक परफॉरमेन्स) एवं डी.एन. तिवारी (सेन्ट्रल प्रॉब्लेम्स ऑफ भर्तृहरि फ़िलॉसफी, 2008) इत्यादि प्रमुख हैं। व्याकरण दर्शन की प्रमाणमीमांसा पर एकमात्र इदंप्रथमतया जो मानक कार्य हुआ है वह है रामप्रसाद त्रिपाठी कृत 'व्याकरणदर्शने प्रमाणसमीक्षा' (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित)।

V

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का आसन्न वर्तमान वस्तुतः दार्शनिक क्रिया–कलापों से सरोकार रखने वाले इस युग के अध्येताओं की तीसरी एवं चौथी पीढ़ी का मिला–जुला रूप है। इस वर्तमान पर आरूढ़ तीसरी पीढ़ी अपने वय और स्वाध्याय की दृष्टि से प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो रही है और चौथी पीढ़ी जो उदीयमान है तथा उसका दार्शनिक अध्यवसाय अभी स्वरूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रहण करने की प्रक्रिया में है। ऐसी स्थिति में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इस युग की कोई स्पष्ट रूप–रेखा प्रस्तुत करना भीड़ से होकर गुजरने वाली ज्ञान के विकास की रेखा की ऋजुता और वक्रता को नापने जैसा ही हो सकता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस युग में दर्शन का क्षैतिज–विस्तार पहले की अपेक्षा अधिक हुआ है और गुणात्मक विस्तार की दृष्टि से अभी कुछ कहना जल्दीबाजी होगी।

आधुनिक भारत में, विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में, स्वाध्याय की प्रवृत्ति प्रमुख रही है लेकिन आलोचनात्मक हस्तक्षेप की वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती जैसी कि पहली शताब्दी से लगभग बारहवीं शताब्दी तक न्याय और बौद्ध परम्परा के मध्य दिखाई देती है। इस कारण आधुनिक भारत में किसी व्यक्ति के दार्शनिक योगदानों को व्यावर्त्तक रूप में निर्धारित करना कठिन होता है। फिर भी कुछ एक पत्र–पत्रिकाओं को सन्दर्भ बनाकर स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमान मुखौटे को पहचाना जा सकता है, क्योंकि किसी युग विशेष में ज्ञान के सामूहिक विकास का मुखपत्र उस युग की पत्र–पत्रिकायें ही होती हैं। इस देश में अंग्रेजी माध्यम से निकलने वाली पत्रिकाओं में 'जे. आई.सी.पी.आर. (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) और 'इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली' (दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय) प्रमुख हैं। जे. आई.सी.पी.आर. के नये सम्पादक प्रो. अशोक वोहरा (दिल्ली) हैं जो पाश्चात्य दर्शन के जाने–माने विशेषज्ञ और दर्शन की युवा पीढ़ी को प्रोन्नत करने में रुचि रखने वाले सूझ–बूझ सम्पन्न व्यक्ति हैं। 'इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली' के नये सम्पादक प्रो. सदानन्द मोरे (पुणे) भारतीय नीतिशास्त्र एवं संत–दर्शन के सुहृद विद्वान् हैं।

हिन्दी में निकलने वाली पत्रिकाओं में 'दार्शनिक त्रैमासिक' (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्), 'उन्मीलन' (दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर), 'परामर्श' (दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय) और 'समाज धर्म दर्शन' (भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद) प्रमुख हैं। इनमें दार्शनिक त्रैमासिक के सम्पादक प्रो. आर.सी. सिन्हा (ज. 1944, पटना) हैं। इनके अध्यवसाय का क्षेत्र आधुनिक भारतीय चिन्तन के साथ–साथ 'सबाल्टर्न फिलॉसफी एण्ड एथिक्स' है। 'बुद्धि' की आधुनिक और उत्तर आधुनिक भूमिकाओं को पुंखानुपुंख समझते हुए इनका 'सीमान्त दर्शन' भारत में दलित दर्शन की सत्तामीमांसा को उद्घाटित करने के प्रति एक महत्त्वपूर्ण पहल है। 'परामर्श' के सम्पादक प्रो. एस. भेलके (पूणे) हैं। इनके पास सम्पादन का लम्बा अनुभव है और इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण बहुविज्ञता इनकी विशेषज्ञता पर भारी पड़ती है। उन्मीलन के सम्पादक प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा और डॉ. प्रदीप खरे (भोपाल) हैं। इसमें डॉ. प्रदीप खरे भक्ति पुरस्सर मधुसूदनी अद्वैतवेदान्त के नवोदित अध्येता हैं। 'समाज धर्म दर्शन' के सम्पादक प्रो. जटाशंकर (जन्म–1953), संगमलाल पाण्डेय के वरिष्ठ शिष्यों में 'वेदान्ती समाजवाद' के उपस्थापक दार्शनिक कहे जा सकते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नव–वेदान्त की लोकायनी समाजवादी व्याख्या और उसके दार्शनिक गुण–सूत्रों को उद्घाटित करने वाली उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'वेदान्ती समाजवाद' (1999) है।

उपर्युक्त सभी पत्रिकाओं के पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित अंकों (जे.आई.सी.पी.आर. तथा दार्शनिक त्रैमासिक का इण्डेक्स उपलब्ध है) को देखने से स्पष्ट ही विदित होता है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमानारूढ़ युग में किसी विशेष दार्शनिक प्रवृत्ति का प्राधान्य नहीं बल्कि एक प्रकार से बहुलवादी दार्शनिक संस्कृति के पनपने के संकेत मिलते हैं। इसे केवल भौगोलिक अर्थ में ही भारतीय कहा जा सकता है, दार्शनिक गोत्र में तो यह कुछ और ही है। ऐसा दार्शनिक लेखन जो अपने दार्शनिक गोत्र में भारतीय हो, उसे निरपवाद रूप से 1985 से अद्यतन प्रकाशित केवल 'उन्मीलन' में ही देखा जा सकता है। लेकिन विडम्बना यह है कि उन्मीलन हिन्दी माध्यम की पत्रिका है और उससे जुड़े लेखकों की संख्या बहुत कम है। उनमें भी अधिकांश स्वातन्त्र्योत्तर युग की वर्तमान पीढ़ी से सम्बन्धित न होकर वास्तव में उसकी दूसरी पीढ़ी के विद्वान् रहे हैं। जे.आई.सी.पी.आर. और इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली में प्रकाशित वैसे लेख और लेखक जिन्हें स्वातन्त्र्योत्तर युग की तीसरी और चौथी पीढ़ी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, उनका दार्शनिक गोत्र सामान्य तौर पर पाश्चात्य परम्परा के एंग्लो सेक्सन फिलॉसफी, फेनोमेनोलॉजी एवं अस्तित्ववाद तथा उत्तर आधुनिकता से सम्बन्धित है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की इस टोली ने उपर्युक्त दार्शनिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपना कोई महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप दर्ज नहीं कर पाया है जैसा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येतृता की दूसरी पीढ़ी के चन्द लोगों ने किया था और उन्हें मान्यता भी मिली थी। ऐसे मान्यता प्राप्त अध्येताओं में जे.एल. मेहता, जे.एन. मोहन्ती, रिचर्ड सोराबजी और अकील बिलग्रामी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। अंग्रेजी माध्यम से लिखने–पढ़ने वाले स्वातन्त्र्योत्तर युगीन उदीयमान अध्येताओं का एक ऐसा वर्ग भी है जो सभ्यता के वर्तमान दौर में जन्म लिए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन अनुप्रयुक्त समस्याओं पर लिखता–पढ़ता है जो व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारवादी दर्शन और तकनीकी हेजेमोनी से सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में आने वाले नवोदित अध्येता अवश्य ही प्रतिभावान् हैं लेकिन दर्शन के क्षेत्र में उनका प्रवेश आत्मचेतन निर्णय पूर्वक न होकर औचक तरीके से हुआ है। भारत के प्रौद्योगिक संस्थानों से जुड़े दर्शन के अधिकांश अध्येता इसी प्रकृति के हैं। उनके चिन्तन में कोई अन्तर्निहित धारा नहीं दिखाई पड़ती है। यदि उनमें कोई धारा बनती देखी भी जाय तो उसे भारतीय चिन्तन का पोषक तो नहीं ही कहा जा सकता है। हाँ, उसे यूरोपीय विचार–परम्परा का पृष्ठपेषण अवश्य कहा जा सकता है।

पुनः हिन्दी माध्यम से हो रहे स्वतन्त्र लेखन तथा दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श और समाज–धर्म–दर्शन इत्यादि पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर अध्येतृता का वर्तमान स्वरूप जिस रूप में परिलक्षित हो रहा है उसे केवल क्षैतिज विस्तार की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। सृजनात्मक दार्शनिक लेखन की कसौटी पर उसे खरा कहा जाना कठिन है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी माध्यम से जो कुछ लिखा जा रहा है वह अधिकांश में द्वैतियक स्रोतों पर आधारित प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे लेखनों में इस विवेक की नितान्त कमी दिखाई पड़ती है कि वह क्या है जिस पर लिखा जाना चाहिए और यह भी कि कैसे लिखा जाना चाहिए। परम्परा की अन्तरंग पहचान के बिना यह विवेक सम्भव ही नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता की इस कमी का एक दुष्परिणाम यह भी है कि हम अपने से पूर्व की पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय और हस्तक्षेपों से भी अवगत नहीं हो पाते। उसे आगे बढ़ाना तो दूर की कौड़ी है। इस सर्वेक्षणात्मक आलेख से ही इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन पहली और दूसरी पीढ़ी के अध्येताओं ने अपने दार्शनिक अध्यवसाय से हमें आगे बढ़ने के लिए कितना महत्त्वपूर्ण सोपान प्रदान किया है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता यदि पाश्चात्य दर्शन को उसके मौलिक स्रोतों से नहीं जानती तो वह उतना हानिकारक नहीं, जितना यह कि वह अपने को भारतीय दर्शन के मौलिक और आकर स्रोतों से काट ले। दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए यह एक गम्भीर समस्या है और इससे निजात पाने के लिए एक विशेष प्रकार का सामूहिक संकल्प और संस्थागत पहल की जरूरत है। यह कार्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के मौलिक ग्रन्थों का हिन्दी अथवा अंग्रेजी में अनुवाद करके कुछ हद तक पूरा किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता है। आजादी के बाद इस देश में सरकारी तौर पर इस कार्य को बढ़ावा देने का भी प्रयास किया गया और उसके तहत ग्रीक दर्शन एवं आधुनिक पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी कराए गए। इस प्रकार के सरकारी प्रयासों से प्रेरणा पाकर कुछ विद्वानों ने व्यक्तिगत स्तर पर भी पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है। सम्प्रति अशोक वोहरा द्वारा विटिगेन्स्टाइन के ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया जाना उल्लेखनीय है। भारतीय दर्शन के आकर ग्रन्थों का हिन्दी–अंग्रेजी अनुवाद को सरकारी तौर पर बढ़ावा देने के लिए कोई कार्यक्रम तो नहीं बनाया गया लेकिन इस आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य को कतिपय भारतीय विद्वान् व्यक्तिगत संकल्प के साथ पूरा करते रहे हैं। ऐसे भारतीय विद्वानों में गंगानाथ झा (न्याय एवं मीमांसा), युधिष्ठिर मीमांसक (मीमांसा एवं व्याकरण), दुर्गाधर झा (न्याय एवं मीमांसा), स्वामी योगिन्द्रानन्द (अद्वैत वेदान्त एवं बौद्ध), बदरीनाथ शुक्ल (न्याय), धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (न्याय), केदारनाथ मिश्र (शुद्धाद्वैत), रामशंकर त्रिपाठी (बौद्ध), नारायण शास्त्री द्रविड़ (न्याय), हरिहरानन्द आरण्य एवं रामशंकर भट्टाचार्य (सांख्य), केदारनाथ त्रिपाठी (सांख्य एवं न्याय) इत्यादि ने उल्लेखनीय कार्य किया है। इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी इस क्षेत्र में छिट–फुट कार्य किया है और भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों के महत्त्वपूर्ण आकर ग्रन्थों का हिन्दी अथवा अंग्रेजी अनुवाद आज उपलब्ध है और इसी कारण भारतीय दर्शन के आकर ग्रन्थों का हिन्दी–अंग्रेजी माध्यम से पठन–पाठन में न्यूनाधिक उपयोग भी सम्भव हो पा रहा है। विगत कुछ वर्षों से भारतीय दर्शनों के मूलानुगत अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् ने समय–समय पर विभिन्न कार्यशालाओं का आयोजन कर इस दिशा में बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है।

सम्प्रति भारत में दार्शनिक अध्यवसाय का एक नवीन क्षेत्र पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के रूप में सामने आया है। पारिस्थितिकीय असन्तुलन एक भूमण्डलीय समस्या होने के कारण इस विषय को लेकर पूरी दुनियाँ में बहुत कुछ लिखा जा रहा है और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच सम्बन्ध और केवल मनुष्य के हितार्थ प्रकृति के अविचारित दोहन के औचित्य पर फिर से विचार किया जा रहा है। वर्तमान पीढ़ी के भारतीय अध्येताओं ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त रुचि दिखाई है। यद्यपि इस क्षेत्र में ज्यादातर लोगों ने कैजुअल राइटिंग ही किया है लेकिन बहुतेरे लोगों के द्वारा यदा–कदा ही सही, ऐसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयासों से भारतीय वाङ्.मय में यत्र–तत्र उपलब्ध उन सन्दर्भों का व्यापक सर्वेक्षण सामने आया है जो किसी–न–किसी रूप में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय दर्शन के अनुप्रयुक्त पक्ष को लेकर यह एक नया अध्याय है और इस भूमण्डलीय समस्या के प्रति मूल्यवान भारतीय दृष्टि को अवश्य ही दुनियाँ के सामने मजबूती से रखा जाना चाहिए। परन्तु हमने जहाँ तक इस क्षेत्र से सम्बन्धित लेखनों का अवलोकन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि प्रकृत समस्या का भारतीय दृष्टि से दार्शनिकीकरण यथोचित रूप से नहीं किया जा रहा है। अभी तक के अधिकांश प्रयासों से वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्र और भारतीय परम्परा के महाकाव्यों में गहन–पारिस्थिकी के उन आकर स्थलों को चिह्नित किया जाना जरूर सम्भव हुआ है जिन्हें समग्रतावादी भारतीय विश्वदृष्टि के तहत व्याख्यायित किया जाय तो पर्यावरणीय नैतिकता के भारतीय पक्ष को मूलगामी रूप में उभारा जा सकता है।

सम्प्रति स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न विधाओं को अपने अध्यवसाय का विषय बनाने वालों में गोरखपुर के सभाजीत मिश्र (अस्तित्ववाद), हैदाराबाद के आर.सी. प्रधान (विश्लेषणात्मक दर्शन), दिल्ली के सत्यपाल गौतम (सामाजिक–राजनीतिक दर्शन) एवं आर.पी. सिंह (पोस्टमाडर्निज़्म, हरमेन्युटिक्स, डिकन्स्ट्रक्शन), शिलांग के बी.के. अग्रवाल (हरमेन्युटिक्स, सामाजिक–राजनीतिक दर्शन), मुम्बई के पी.आर. भट्ट (तर्कशास्त्र एवं विश्लेषणात्मक दर्शन), लखनऊ के राकेश चन्द्रा (विश्लेषणात्मक दर्शन और ज्ञानमीमांसा), इलाहाबाद के संजय कुमार शुक्ला (काण्ट और हुस्सर्लीय फेनोमेनोलॉजी), हैदाराबाद के प्रसेनजित विश्वास (ज्ञानमीमांसा एवं भाषा दर्शन), लखनऊ के के.सी. पाण्डेय (विटिगेन्स्टाइन) एवं हजारीबाग के रवीन्द्र के.एस. चौधरी (विटिगेन्स्टाइन) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

अवधेय है कि प्रो. एन.एस. रमण (ज. 1929) जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक वरिष्ठ दार्शनिक तथा पूरब और पश्चिम के दार्शनिक निहितार्थों का अच्छा–खासा अनुभव रखते हैं, उन्होंने अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'दी फ्यूचर ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' (पप्पु एस. रामाराव एवं आर. पुलिगेन्डला–सम्पा. 'इण्डियन फिलॉसफी पास्ट एण्ड फ्यूचर, पृ. 371–81) में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहा है कि "ब्रिटिश दर्शन के प्रति आसक्ति रखने में भारतीय दर्शन का कोई रचनात्मक भविष्य दिखाई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं पड़ता और जहाँ तक विश्लेषणात्मक दर्शन का सम्बन्ध है तो यह भारतीय दर्शन की अस्मिता को ही पूरे तौर से नकार देता है। ऐसे में भारतीय दर्शन का मूल्यवान भविष्य इस बात में निहित है कि वह अपने गहन दार्शनिक प्रतीकों को फिर से एक नये प्रकाश में उद्घाटित करे ताकि मनुष्य के आत्मिक अनुभवों को प्रामाणिकता के साथ सामने लाया जा सके। आज की वैश्वीय दार्शनिक परिस्थिति में भारतीय दर्शन को इस भूमिका के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए पहले की अपेक्षा बेहतर अवकाश है।"

प्रो. एन.एस. रमण की उपर्युक्त चिन्ता स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए एक महत्त्वपूर्ण दिशा–निर्देश है। सम्प्रति पाश्चात्य दर्शन के भारतीय अध्येताओं को भी अपने पश्चिमी अनुभव और अध्यवसाय के प्रतिबल से भारतीय दर्शन की इस भावी भूमिका को अपना योगदान देने के लिए सामने आना चाहिए। इस सन्दर्भ में हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक सृजनधर्मी दार्शनिक के अनुभव को सप्रसंग उपस्थापित करना चाहते हैं ताकि उसे उसकी सम्पूर्ण प्रभावमत्ता के साथ आत्मसात किया जा सके। प्रो. जड़ाव लाल मेहता जो प्रारम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे और बाद में मार्टिन हाइडेग्गर के विश्वप्रसिद्ध ज्ञाता के रूप में प्रख्यात् हुए, इन्हें 1985 में अज्ञेय जी ने "हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला" के लिए आमंत्रित किया और वे इसके अन्तर्गत पाँच व्याख्यान दिये जो बाद में 'कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। अपने पाँचों व्याख्यानों में प्रो. मेहता ने अपने पूर्वी और पश्चिमी अनुभव का निचोड़ प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने ही घर 'भारत' में अपने व्याख्यान को प्रस्तावित करते हुए अपने सम्पूर्ण अनुभवों के साथ एक हृदय–विदारक टिप्पणी की थी। वह यह कि "ऋतगोपा वरुण के सहस्रद्वार घर तक पहुँचने के उतने ही वाग्पथ हैं, पर उनमें भी अपने ही सांस्कृतिक अतीत और जीवित परम्परा द्वारा निर्मित और निर्दिष्ट पथ ही ऋजु मार्ग है, अपने भूत से वर्तमान को जोड़ने का कठिन, पर सीधा रास्ता है। वैसे तो टेढ़े–मेढ़े रास्तों पर, राजमार्ग छोड़कर, भटकने का भी अपना अलग सुख है, अपनी अलग उपलब्धियाँ हैं। पर लौटकर सीधा रास्ता पकड़ सकने में आत्म–लाभ का आनन्द है।"

यदि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस वर्तमान पीढ़ी के सन्दर्भ में प्रो. रमण के भविष्य बोध और प्रो. के. मेहता वापस घर लौटने की स्वीकृति को जाँचें–परखें तो आज यह न्यूनाधिक रूप में चरितार्थ होता हुआ प्रतीत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। भारतीय दार्शनिक अध्यवसाय की साम्प्रतिक स्थिति में भारतीय और पाश्चात्य दर्शन की स्थिति एक–दूसरे से मुँह मोड़ने की नहीं रह गयी है। भारत में पाश्चात्य दर्शन के अध्यवसायी अब भारतीय दर्शन के इस स्वरूप को समझने लगे हैं कि यह भी एक मनुष्य की सार्वभौमिक ज्ञानात्मक उपलब्धि है और इस तरह वे सभी अपने–अपने पश्चिमी अनुभव के नजदीक पड़ने वाले भारतीय दर्शन के पक्ष को तरासने लगे हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शन के पारम्परिक एवं आधुनिक अध्येता भी पाश्चात्य दर्शन को इस तरह नहीं देखते कि मानो वह ज्ञान की कोई निषिद्ध म्लेच्छ परम्परा हो। भारतीय दर्शन का आधुनिक अध्येता यदि अपनी विशेषज्ञता के समीप पड़ने वाले पाश्चात्य दार्शनिक पक्ष से परिचित नहीं होता तो वह उसे अपनी कमी स्वीकार करने लगा है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की ऐसी अन्तर–दार्शनिक संवेदनशीलता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है और यह भारतीय दर्शन के सार्वभौमिक चरित्र की प्रतिष्ठा (आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः) के प्रति महत्त्वपूर्ण संकेत भी है। भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में इस प्रकार की अकादमिक संवेदनशीलता के साथ सम्प्रति जो लोग सक्रिय हैं उनमें से बहुतों के अध्यवसाय का संकेत पहले ही किन्हीं प्रसंगों में किया जा चुका है और शेष लोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का संकेतन यहाँ द्रष्टव्य है।

सम्प्रति अद्वैत वेदान्त के स्वाध्यायी विद्वान् देश भर में अनेकों मिल जायेंगे लेकिन पारम्परिक पाण्डित्य और साधक प्रकृति के विद्वानों में सुधांशु शेखर शास्त्री (वाराणसी) और मणि द्राविड़ (पूर्व में वाराणसी और सम्प्रति मद्रास) का नाम यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों नव्य वेदान्त अर्थात् श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती की परम्परा के उद्भट अध्येता हैं। श्रीहर्षोत्तर अद्वैत वेदान्त की तर्कणा पद्धति जो अनिर्वचनीयता के तर्कशास्त्र से होकर निर्विशेषाद्वैत में फलित होती है, उसके एक अछूते क्षेत्र में सुधांशु शेखर शास्त्री ने शंकर चैतन्य भारती (1915–1958) के 'दर्शनसर्वस्वम्' तथा 'खण्डनखण्डखाद्य' की शारदाटीका पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी तरह अद्वैत वेदान्त के आधुनिक विद्वानों में हैदराबाद के ए. राममूर्त्ति (अद्वैत : ए कॉन्सेप्चुअल एनालिसिस), बंगलोर के श्रीनिवास राव (अद्वैत : ए क्रिटिकल इन्वेस्टिगेशन), मद्रास के गोदावरीश मिश्र जो अद्वैत वेदान्त के विद्यारण्य सम्प्रदाय के आधिकारिक अध्येता हैं तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक अत्यन्त सम्भावनावान् अध्येता आनन्द मिश्र (संवित् प्रकाशवाद) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। आनन्द मिश्र के 'संवित् प्रकाशवाद'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रन्थ को चेतना के समकालीन अध्ययन के क्षेत्र में 'यूनिटी थेसिस' के पक्ष में भारतीय दृष्टि से लिखा गया एक मौलिक प्रबन्ध कहा जा सकता है। इसी को आधार बना कर उन्होंने गहन ज्ञानमीमांसा से तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अद्वैतयात्रा को सफलतापूर्वक उद्घाटित किया है।

इसी तरह भारतीय दर्शन परम्परा में बौद्ध दर्शन की जड़ें बहुत गहरी हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध विद्या के विकास को यथासम्भव राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। परन्तु इस देश के बौद्ध अध्ययन केन्द्रों से जुड़े विद्वानों की भूमिका बड़ी निराशाजनक है। इन्हें अधिक से अधिक बौद्ध विद्या की विरदावली गान करने वाला ही कहा जा सकता है। इस अप्रिय सत्य के प्रमाणस्वरूप शिशिर कुमार पाण्डेय द्वारा सम्पादित और श्रीयुत् दलाई लामा को समर्पित 'ज्ञानायनी' (वर्ष–3, अंक–1–2, 2005) नामक पत्रिका के बौद्ध–संस्कृति विशेषांक को देखा जा सकता है। इसमें सम्प्रति भारत के तथाकथित 64 विद्वान् एक साथ अपनी चौंसठों मुद्राओं में उपस्थित हुए हैं। इसके बावजूद भी भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध बौद्ध दर्शन के कुछ एक ऐसे अध्येता हैं जो अपने अध्यवसाय से बौद्ध दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत करते हैं। ऐसे सक्रिय विद्वानों में दिल्ली के एच.एस. प्रसाद (सेन्ट्रेलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज़्म), पुणे के प्रदीप पी. गोखले (इनफरेन्स एण्ड फैलेसिज डिस्कस्ड इन एनसियेण्ट इण्डियन लॉजिक), पुणे की ही मंगला आर. चिंचोरे (धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ हेतु सेन्ट्रीसिटी तथा बुद्धिस्ट कॉन्सेप्ट ऑफ मैन एण्ड ह्यूमन इमैंसिपेशन), भारतीय संशयवाद और नागार्जुन के विशिष्ट ज्ञाता डी.के. मोहन्ता (कोलकाता) तथा अम्बिकादत्त शर्मा (बौद्ध प्रमाण दर्शन) प्रमुख हैं। द्रष्टव्य है कि एच.एस. प्रसाद ने मानव एकता के बौद्ध सूत्र को 'दुखियारों के सम्प्रदाय' के रूप में और मानव समानता के सूत्र को सद्धर्मोन्मुखी होने के रूप में बिलकुल अभिनव तरीके से उद्घाटित किया है तथा बुद्ध की निदानपरक दृष्टि को मानवीय चेतना और सम्पूर्ण मानवता के अ–तत्त्वमीमांसीय नैतिकीकरण की एक महान् कार्ययोजना की तरह देखा है। अब जहाँ तक अम्बिकादत्त शर्मा के अध्यवसाय का प्रश्न है तो नारायण शास्त्री द्रविड़ (न्यूजीलैंड) ने उनके 'बौद्ध प्रमाण दर्शन' की समीक्षा (उन्मीलन, वर्ष–21, अंक–2, जुलाई 2007) करते हुए कहा था कि "यह पुस्तक प्रौढ़ प्रमाण दार्शनिक दृष्टि से लिखी गई एक अनूठी कृति है। बौद्ध पुरस्कृत प्रमाण–सिद्धान्त से सम्बद्ध समस्याओं पर जितना विस्तृत और मूलग्राही विवेचन इसमें प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र अब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक मुझे देखने को नहीं मिला। इन समस्याओं पर अंग्रेजी में भी, जिसमें बौद्ध दर्शन पर अनेकों निबन्ध–प्रबन्ध लिखे गये हैं, कोई शोध–प्रबन्ध नहीं लिखा गया है।" प्रदीप पी. गोखले ने (जे.आई.सी.पी.आर. – **XXV**, जुलाई–सितम्बर, 2008, पृ. 168) अम्बिकादत्त शर्मा के अभिनव ज्ञानमीमांसीय अभिगम पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "बौद्ध प्रमाण दर्शन के लेखक के अकादमिक योगदानों को दो तरीके से मान्य किया जा सकता है। पहला यह कि लेखक ने ऐतिहासिक न्याय–बौद्ध–विवाद को बिलकुल एक नया जीवन प्रदान किया है और दूसरा यह कि भारतीय प्रमाण मीमांसा में पहली बार 'मेटा एपिस्टेमोलॉजिकल एप्रोच' को चौंका देने वाली स्पष्टता के साथ विकसित किया गया है।"

ऐसे ही हैदराबाद के ए. रघुराम राजू (इन्ड्योरिंग कोलोनियलिज़्म : क्लासिकल प्रजेन्सेज एण्ड मॉडर्न एबसेन्सेज इन इण्डियन फिलॉसफी) जो मूलरूप से 'कॉगनिटिव साइन्स' के अध्येता हैं लेकिन इस समय समकालीन भारतीय दर्शन पर बहुविध रूप से सनसनीखेज लेखन कर रहे हैं। इसमें दो राय नहीं कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी में कई अन्य अध्येता अपनी–अपनी तरह से सक्रिय हैं और निकट भविष्य में अपनी विशिष्ट पहचान के साथ उभर कर सामने आयेंगे। उन सब की जानकारी हमें उपलब्ध हो, यह सम्भव नहीं, फिर भी चलते–चलते यहाँ अजय वर्मा (दिल्ली विश्वविद्यालय), वरुण कुमार त्रिपाठी एवं अनिल कुमार तिवारी (वैष्णो देवी विश्वविद्यालय, जम्मू), जयन्त उपाध्याय (वाराणसी), अमित मिश्रा (इलाहाबाद) और सुधांशु शेखर (भागलपुर) की ओर आशा भरी निगाहों के साथ देखा जा सकता है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा–दिशा और उपलब्धियों के यथासम्भव उपर्युक्त सर्वेक्षण का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन का अतीत, वर्तमान और भविष्य अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय रहा है। के.सी. भट्टाचार्य ने 'स्वराज इन आईडियाज़' नामक अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में उचित ही कहा था कि "आधुनिक समय में भारत की आत्मा को यदि कहीं खोजा जाना अपेक्षित हो तो उसे दर्शन के क्षेत्र में ही पाया जा सकता है।" इस निर्विवाद सत्य में हम यह जोड़ना चाहेंगे कि यदि भारत की आत्मा उसकी समृद्ध दर्शन परम्परा में बसती है तो भारतीय दर्शन की आत्मा का स्थायी निवास उसके तत्त्वचिन्तन में है। थोड़े समय के लिए आये तर्कीय प्रत्यक्षवाद के चक्रवात से लगा कि मनुष्य

· Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को उसके तत्त्वमीमांसीय लंगर से काट दिया जायेगा लेकिन यह बवण्डर जल्द ही शान्त हो गया। तत्त्वमीमांसा ही अतिक्रामी मानवीय जिज्ञासा का विश्रान्ति स्थल है। अम्बिकादत्त शर्मा (ज. 1960) और संजय कुमार शुक्ला (ज. 1964) ने मिल कर भारतीय दर्शन की दृष्टि से इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया है, जिसका शीर्षक है "इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : एन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज़्म"–(2008)। इसमें सम्पादकद्वय ने सशक्त तरीके से यह दिखाया है कि पाश्चात्य परम्परा में स्ट्रॉशन, डेविडसन और पुंताम इत्यादि ने जिस तरह तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान को प्रत्युत्तरित किया है वह तत्त्वमीमांसा के बचाव का उचित मार्ग नहीं। यह मार्ग हमें तत्त्वमीमांसा के उस स्वरूप तक नहीं ले जाता जो मानवमात्र की नितान्त आन्तरिक अभीप्साओं के सर्वथा अनुरूप हो। सम्पादक द्वय ने तत्त्वमीमांसा के अर्थ, प्रयोजन और औचित्य पर प्रकाश डालते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य में तत्त्वमीमांसा के पुनरोद्धार की उच्चतर सम्भावनाओं को कई एक समकालीन भारतीय दार्शनिकों के मौलिक लेखन के माध्यम से उद्घाटित किया है। इस ग्रन्थ में इस विषय पर टी.आर.वी. मूर्त्ति, कालिदास भट्टाचार्य, यशदेव शल्य, याकूब मसीह, जी.सी. पाण्डे, आर.एस. मिश्रा, एस.एस. राय, ए.के. चटर्जी एवं डी.एन. द्विवेदी के मौलिक लेखन स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के भावी स्वरूप को लेकर सम्भावनाओं का एक द्वार खोलते हैं।

अन्त में श्री अरविन्द (द्रष्टव्य प्रतिमान, प्रवेशांक जनवरी–जून 2013, श्रीअरविन्द का 'मौलिक चिन्तन पर कुछ विचार' – अनुवादक, राकेश पाण्डेय, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली) की इस टिप्पणी के साथ इस ऐतिहासिक सर्वेक्षण का उपसंहार करना उचित होगा कि "जो भारतीय बौद्धिकता किसी जमाने में दुनियाँ के पैमाने पर सर्वाधिक विराट् और मौलिक थी, उसे इसी तरह दासता के कारण लगातार क्षयग्रस्त होना पड़ा है। हमारी बौद्धिकता में कुछ भी देशज नहीं है, सारी बातें कहीं और से ली गई हैं। चूँकि नये ज्ञान के बारे में हमारी समझ बहुत ही कम है, इसलिए यूरोपियन अपने और अपनी आधुनिक सभ्यता के बारे में हमें जो समझाना चाहते हैं हम वही समझ पाए हैं। पता नहीं इसे संस्कृति भी कहा जाना चाहिए या नहीं, पर हमारी अंग्रेजी संस्कृति ने परनिर्भरता के हमारे दुर्गुणों को दुरुस्त करने के बजाय दस गुना बढ़ा दिया है। हम अपने खोये हुए बौद्धिक स्वातंत्र्य और लचीलेपन को कैसे हासिल कर पायेंगे? इसे फिर से हासिल करने के लिए कम–से–कम फ़िलहाल हमें उस प्रक्रिया को उलटना होगा जिसके कारण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमने इन्हें खोया है। हमें अपने दिमागों को दासत्व से लेकर प्राधिकार तक सभी मामलों में मुक्त करना होगा। सुधारक और अंग्रेज़ीदाँ नहीं चाहते हैं कि हम ऐसा करें। वे हमसे प्रभुत्व को ठुकराने, प्रथाओं और अंधविश्वासों के ख़िलाफ़ बग़ावत करने तथा मुक्त और प्रबुद्ध दिमाग़ रखने की उम्मीद करते हैं। लेकिन असल में उनकी इन मुखर सिफारिशों का अर्थ यह होता है कि हमें सायण का प्रभुत्व नकारना चाहिए और इसकी जगह हमें मैक्सम्यूलर को स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी तरह इन सिफ़ारिशों का यह अर्थ भी होता है कि हमें शंकर के अद्वैतवाद की बजाय हेगेल के एकात्मवाद, लिखित शास्त्रों के बजाय यूरोपीय सामाजिक विचार के अलिखित क़ानून तथा ब्राह्मण पंडितों की रूढ़ियों के बजाय यूरोपीय वैज्ञानिकों, विचारकों और चिन्तकों की रूढ़ियाँ अपना लेनी चाहिए। आत्म–सम्मान रखने वाला कोई भी व्यक्ति ग़ुलामी से भरे इस बेवकूफ़ाना लेन–देन को स्वीकार नहीं कर सकता। आइए हम अपनी ज़ंजीरें तोड़ दें। भले ही ये ज़ंजीरें कितनी भी आदरणीय क्यों न हों, लेकिन स्वतन्त्र होने के लिए इन्हें हटाना ही होगा। यह हमें यूरोप के नाम पर नहीं, बल्कि सत्य के नाम पर ऐसा करना होगा। हो सकता है कि हमारा पुराना भारतीय ज्ञान हमें रोशनी देने में अक्षम हो गया हो, लेकिन इसके बदले में उधार लिए गये यूरोपीय प्रबोधन को अपनाना या प्रचलित हिन्दू धर्म के अंधविश्वासों के बजाय भौतिकवादी विज्ञान के अन्धविश्वासों को अपनाना एक नुकसानदेह सौदा ही होगा।"

दर्शन-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर - 470003 (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ –

1. *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, प्रथम संस्करण (1936) एवं द्वितीय संस्करण (1952), सम्पा. राधाकृष्णन् एवं जे.एच. म्योरहेड.*
2. *रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी, कालीदास भट्टाचार्य, प्रोग्रेसिव पब्लि, कलकत्ता.*
3. *समकालीन भारतीय दर्शन, के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति, 1962.*
   कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, आर.एस. श्रीवास्तव, 1965.
4. *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, राव नागराज, 1970.*
5. *रीसेण्ट ट्रेण्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी, के.एस. मूर्त्ति एवं रामकृष्ण राव, 1972.*
6. *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, बी.के. लाल, 1973.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

7. कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, मार्गरिट चटर्जी, 1974.
8. इण्डियन फिलॉसफी टुडे, एन.के. देवराज, 1975.
9. इण्डियन फिलॉसफी सिन्स इण्डिन्डेंस, रीप डेले, 1978.
10. इण्डियन फिलॉसफी पास्ट एण्ड फ्यूचर, पप्पू एस.एस. रामाराव एवं आर. पुलिगेन्द्रा, 1982.
11. फैसेट्स ऑफ रीसेण्ट इण्डियन फिलॉसफी – चार भाग, सम्पा. ए.पी. दुबे, 1954, 98, 99.
12. स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण–1– समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
13. स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक विमर्श–2– समेकित अद्वैत विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
14. स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण–3– भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2006.
15. इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : एन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज़्म, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय कुमार शुक्ल, 2008.
16. भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के द्वारा 'दी बिल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सीरीज़' के अन्तर्गत प्रकाशित सभी पुस्तकें।
17. इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश : फ्राम रेनेसां टू इण्डिपेन्डेन्स, सम्पा. नलिनी भूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड, 2011.
18. समसामयिक चिन्ताएँ, यशदेव शल्य.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्रीय और शास्त्रेतर पद्धति द्वारा व्याप्ति-लक्षण परीक्षण

राजवीरसिंह शेखावत

शास्त्र सृजन किंवा शास्त्र रचना में 'अनुबन्ध' और 'प्रवृत्ति' की महती भूमिका होती है। यद्यपि अनुबन्ध और शास्त्र प्रवृत्ति को लेकर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है तदपि यहाँ हम बिना युक्तत्व–अयुक्तत्व की परीक्षा के अनुबन्ध चतुष्टय – विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी – तथा प्रवृत्ति त्रैविध्य – उद्देश, लक्षण और परीक्षण – को मानकर उनका अनुकरण करेंगे। दूसरे, एतदर्थ यहाँ शास्त्र सृजन नहीं होने के कारण तथा प्रकरण अथवा शास्त्रांश के लक्षण का परीक्षण होने के कारण अनुबन्धचतुष्टय को छोड़ते हुए प्रवृत्ति त्रैविध्य को, मुख्य रूप से तीसरे घटक को, आधार बनाकर परीक्षा की शास्त्र सम्मत भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धतियों द्वारा 'व्याप्ति' लक्षण के युक्तत्व–अयुक्तत्व की परीक्षा की जायेगी। ध्यातव्य है, किसी वस्तु या विषय के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो कथन किया जाता है उसे भारतीय शास्त्र परम्परा में 'लक्षण' पद से अभिहित अथवा व्यवहृत किया गया है तथा पाश्चात्य परम्परा में 'डेफिनेशन' पद से। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार 'डेफिनेशन' करना सार देना है। भारतीय शास्त्र परम्परा में 'लक्षण' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लक्षण का लक्षण किया गया है : "अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्"। अथवा "लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्" अथवा "असाधारणधर्मवचनम् लक्षमण्" अर्थात् अतिव्याप्ति आदि तीन दोषों से रहित धर्म का कथन लक्षण है अथवा लक्ष्यतावच्छेदक के समनियत धर्म का कथन लक्षण है अथवा असाधारण धर्म के कथन प्रतिपादन को लक्षण कहते हैं। यहाँ 'असाधारण धर्म' से अभिप्राय है 'विशेष धर्म' जो केवल लक्ष्य में रहता है, लक्ष्य भिन्न में नहीं। लक्ष्य भिन्न में रहने पर लक्षण में अतिव्याप्ति आदि दोष आ जाते हैं। अतः वह अलक्षण हो जाता है। फलतः असाधारण धर्म अथवा लक्षण की तीन अनिवार्य शर्तें हैं : लक्ष्य में अनिवार्य रूप से रहना, लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्य भूत विषयों में नहीं रहना और सम्पूर्ण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्ष्य में पूर्णतया व्याप्त होना। इन शर्तों के अभाव में लक्षण के 'प्रयोजन' की सिद्धि सम्भव नहीं है। ज्ञातव्य है भारतीय शास्त्र परम्परा के अनुसार लक्षण के मुख्य दो प्रयोजन हैं : व्यावृत्ति तथा व्यवहार, जैसा कि कहा गया है "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्"। 'व्यावृत्ति' का अर्थ है भेद अथवा भिन्नता, अर्थात् लक्षित पदार्थ का सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों से व्यवच्छेद प्रकट करना। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'व्यावृत्ति' लक्षण का उत्पाद्य प्रयोजन नहीं है बल्कि ज्ञाप्य प्रयोजन है जिसके द्वारा पूवर्तः विद्यमान व्यावृत्ति का ज्ञान होता है न कि व्यावृत्ति का जनन। 'व्यवहार' से अभिप्राय है लक्ष्य के लिए लक्ष्यबोधक पद–विशेष की व्यवहार में प्रवृत्ति अथवा प्रयोग। पाश्चात्य परम्परा में लक्षण अर्थात् परिभाषा के पाँच उद्देश्य या प्रयोजन बतलाए गए हैं : शब्द भण्डार में वृद्धि करना, सन्दिग्धार्थता का निराकरण करना, अर्थ स्पष्ट करना, सैद्धान्तिक रूप से व्याख्या करना और मनोभावों को प्रभावित करना। प्रस्तुत प्रसंग में "सैद्धान्तिक रूप से व्याख्या करना" ही लक्षण अथवा परिभाषा का मुख्य प्रयोजन है। शेष का अन्तर्भाव उसी में हो जाता है अथवा वे यहाँ गौण हैं; क्योंकि यहाँ पाश्चात्य परम्परा में मान्य परिभाषा के पाँच भेदों – ऐच्छिक परिभाषा, कोशीय परिभाषा, निश्चायक परिभाषा, सैद्धान्तिक परिभाषा और प्रेरक परिभाषा – में से "सैद्धान्तिक परिभाषा" ही परीक्षणीय है।

उल्लेखनीय है कि श्रद्धा प्रधान शास्त्र की प्रवृत्ति, वहाँ पदार्थ के कथन को ही तत्त्वज्ञान का साधन मात्र मान लेने के कारण, एक प्रकार – उद्देश – की मानी गई है, किन्तु युक्ति प्रधान शास्त्र में पदार्थ को 'उद्देश' मात्र से उसका सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं है; क्योंकि किसी पदार्थ के सम्यक् ज्ञान की परिधि में उसे सजातीय और विजातीय अन्य पदार्थों से उसकी विलक्षणता का ज्ञान मुख्य है। वह उसके 'लक्षण' से ही सम्भव है। इसलिए शास्त्र में, पदार्थ के सम्यक् ज्ञान हेतु, उद्देश के अनन्तर पदर्थ के लक्षण का अभिधान कियां जाता है। 'लक्षण' का अभिधान दो प्रकार से किया जाता है; पहले, कभी उद्देश के बाद विभाग और विभाग के बाद लक्षण। दूसरे, कभी उद्देश के बाद लक्षण और लक्षण के बाद 'विभाग', अभिधान की इस दोहरी प्रक्रिया–भेद के पीछे कारण यह है कि जिस पदार्थ का सामान्य लक्षण उसके सामान्य नाम की व्याख्या से ही अवगत हो जाता है उसका स्वतंत्र रूप से सामान्य लक्षण नहीं कर उद्देश के अनन्तर सीधे विभाग कर दिया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है और जहाँ पदार्थ के सामान्य नाम की शाब्दिक व्याख्या से उसका कोई सामान्य लक्षण ज्ञात नहीं होता है वहाँ उसके उद्देश के अनन्तर पहले लक्षण किया जाता है और फिर उसका विभाग।

लक्षण के अनन्तर उसके युक्तायुक्तत्व की 'परीक्षा' की जाती है। यदि लक्षण के तथ्यातथ्य का निर्णय नहीं किया जाए तब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के विषय में सन्देह हो सकता है। इसलिए पदार्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके लक्षण की परीक्षा अपरिहार्य है। ज्ञातव्य है युक्ति प्रधान शास्त्र में 'परीक्षा' का सम्बन्ध केवल 'लक्षण' से है अर्थात् युक्तत्व–अयुक्तत्व की परीक्षा केवल लक्षण की ही जाती है अन्य विषयों की नहीं। 'लक्षित' पदार्थ का लक्षण ठीक है या नहीं, इसका विचार करना 'परीक्षा' कहलाता है, जैसाकि कहा गया है, "लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा"। एतदर्थ, लक्षण की परीक्षा में यह देखा जाता है कि लक्षण से लक्षित पदार्थ का अविकल ज्ञान प्राप्त होता है या नहीं, स्वरूप ज्ञान तथा लक्ष्य में उसका समन्वय सुकर है या नहीं, लक्षण लक्षित पदार्थ में भली–भाँति घटित होता है या नहीं, उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव आदि दोषों में से कोई दोष तो नहीं है, अन्य सम्प्रदायवेत्ताओं या आचार्यों अथवा व्याख्याकारों द्वारा किये गये लक्षण कहाँ तक युक्तियुक्त हैं।

लक्षण की 'परीक्षा' की एक सुगम रीति यह है, पहले, 'पदकृत्य', अर्थात् लक्षण का पदकृत्य किया जाए। 'पदकृत्य' से अभिप्राय है 'पद' का प्रयोजन या उपयोगिता। अन्य शब्दों में, लक्षण में प्रयुक्त पदों या शब्दों का एक विशेष प्रयोजन होता है। किसी लक्षण में प्रयुक्त पद–विशेष या शब्द–विशेष को उस लक्षण से हटा दिया जाए तब लक्षण दोषयुक्त हो जाता है। अतः किसी लक्षण में किस पद–विशेष को रखने की क्या उपयोगिता है यह जानने के लिए लक्षण में से उस पद–विशेष को हटाकर देखा जाता है, इस प्रक्रिया को 'पदकृत्य' कहते हैं। दूसरे, लक्षण दोष, अर्थात् लक्षण में कोई दोष नहीं होना चाहिए। लक्षण में मुख्यतः तीन दोष – अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव – माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अप्रसिद्धि और अव्यवस्था दोष भी लक्षण के माने जाते हैं। लक्षण के इन दोषों में से कोई दोष तो नहीं है इसकी जाँच कर लेनी चाहिए। यद्यपि यह कार्य एक सीमा तक पदकृत्य में हो जाता है तथापि इसकी जाँच अपेक्षित रहती है। एतदर्थ लक्षण को लक्षित पदार्थ पर घटाकर तथा भाषा विश्लेषण द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह परीक्षा कर ली जाती है कि लक्षण में कोई दोष तो नहीं है। तीसरे, 'प्रयोजनसिद्धि' अर्थात् लक्षण से उसके प्रयोजन की सिद्धि हो रही है या नहीं; इसकी जाँच कर लेनी चाहिए।

पाश्चात्य परम्परा में लक्षण अथवा परिभाषा के मुख्यतः पाँच नियम स्वीकार किये गये हैं। पहले, परिभाषा में उपजाति के आवश्यक गुणों का कथन किया जाना चाहिए। दूसरे, परिभाषा चक्रक नहीं होनी चाहिए, अर्थात् परिभाष्य स्वतः परिभाषा के रूप में प्रकट नहीं होना चाहिए। तीसरे, परिभाषा न तो अतिव्याप्त होनी चाहिए और न अव्याप्त, अर्थात् परिभाष्य रूढ़ गुणार्थ तथा वस्त्वर्थ में बराबर होना चाहिए, न अधिक और न न्यून। चौथे, परिभाषा की अभिव्यक्ति सन्दिग्ध, अस्पष्ट या अलंकारिक भाषा में नहीं होनी चाहिए। और पाँचवें, यदि परिभाषा विध्यात्मक हो सके तो उसे निषेधात्मक नहीं होना चाहिए। यद्यपि इस नियम का हेतु यह है कि 'पद' का अर्थ क्या है, परिभाषा को इसका स्पष्टीकरण करना चाहिए न कि इस बात का कि 'पद' का अर्थ क्या नहीं है तथापि अनेक 'पद' ऐसे होते हैं जो अर्थ में वस्तुतः निषेधात्मक होते हैं और उनके लिए निषेधात्मक परिभाषा की ही आवश्यकता होती है, वहाँ परिभाषा निषेधात्मक ही हो सकती है जैसे 'अनाथ' = जिसके माता–पिता जीवित नहीं हैं।

अब, 'व्याप्ति' लक्षणों की परीक्षा करें, इससे पूर्व यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में एवं दार्शनिकों ने 'व्याप्ति' को भिन्न–भिन्न 'पदों' से अभिहित एवं व्यवहृत किया है, जैसे समय, प्रसिद्धि (प्रतिबन्ध, साहचर्य, नियम, अव्यभिचार, व्याप्ति, स्वभाव–नियत–सम्बन्ध, स्वभावमात्राधीन सहचार्य नियम, व्याप्ति–पद, विधि, अनिवार्य–सम्बन्ध, स्वाभाविक–सम्बन्ध, नियत–सम्बन्ध, स्वभाव–प्रतिबन्ध, व्याप्य–व्यापक–सम्बन्ध, गमक–गम्य, लिंग–लिंगी–सम्बन्ध आदि। यहाँ हम इन सबके लिए 'व्याप्ति' पद का ही प्रयोग करेंगे। दूसरे, यहाँ यह अवधेय है कि 'व्याप्ति' के विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में तथा एक दार्शनिक परम्परा–विशेष में भी, अनेक लक्षण उपलब्ध हैं, तब, क्या व्याप्ति के उपलब्ध सभी लक्षणों की परीक्षा की जाए अथवा कुछ प्रमुख लक्षणों की। व्याप्ति के उपलब्ध सभी लक्षणों की परीक्षा यहाँ सम्भव नहीं है; क्योंकि, पहले, अत्यधिक विस्तार हो जाएगा, जिसके कारण एक निबन्ध की विस्तार सीमा का उल्लंघन होगा। दूसरे, अनेक लक्षण अनुगामी होने के कारण उनमें नवीनता अथवा अपूर्वता नहीं है। तीसरे, अधिकांश लक्षणों की परीक्षा अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिकों द्वारा, 'स्व' दार्शनिक परम्परा के अन्य दार्शनिकों अथवा 'पर' दार्शनिक परम्परा के दार्शनिकों द्वारा, पूर्वपक्ष के रूप में, की जा चुकी है। चौथे, व्याप्ति के अनेक लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं होने के कारण उनकी परीक्षा समीचीन भी नहीं है। अतएव व्याप्ति के कुछ लक्षणों का उल्लेख करते हुए अपूर्व और प्रतिनिधि लक्षणों की, महत्त्वपूर्ण, असाधारण एवं समीचीन होने के कारण, युक्तायुक्तत्व की परीक्षा की जाएगी।

यहाँ एक अन्य प्रश्न यह भी विचारणीय है कि किसी विषय या वस्तु अथवा प्रत्यय का स्वरूप और लक्षण एक होता है या भिन्न। यहाँ यह इसलिए अवधेय है; क्योंकि डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र ने अपने ग्रंथ – न्यायदर्शन में अनुमान (सन् 2006) – में व्याप्ति के स्वरूप और उसके लक्षण को भिन्न माना है। इस सन्दर्भ में तत्त्वचिन्तामणि को आधार बनाकर व्याप्ति की चर्चा करते हुए डॉ. मिश्र लिखते हैं, "...मैं यह भी कहना चाहूँगा कि यह विचार व्याप्ति के स्वरूप पर विचार किया गया है व्याप्ति के लक्षण पर नहीं किया गया है। ऐसा मैं इस कारण कर रहा हूँ; क्योंकि अनुमिति के लिए व्याप्ति का लक्षण जानना आवश्यक नहीं; अपितु व्याप्ति के स्वरूप का परिज्ञान ही अनुमिति के लिए अपेक्षित होता है। इसी कारण सम्बन्ध मात्र को व्याप्ति मानने वाले किन्हीं नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः यह व्याप्ति का लक्षण हो सकता है व्याप्ति का स्वरूप नहीं हो सकता। (वही, पृ॰ 50) डॉ. मिश्र आगे लिखते हैं, "यह रहस्यमय सा लगता है कि पारम्परिक विद्वान् इन व्याप्ति स्वरूप के निर्वचनों को आखिर क्यों व्याप्ति का लक्षण समझ लिया करते हैं।" (वही, पृ॰ 51) डॉ. मिश्र के इन वक्तव्यों पर विचार करें, तब, यह एक सीमा तक तो युक्त लगता है; किन्तु डॉ. मिश्र ने अपने पक्ष में स्पष्ट नहीं किया है कि 'स्वरूप' और 'लक्षण' में क्या भेद है? अतएव डॉ. मिश्र का मत स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि पहले, स्वरूप और लक्षण में यदि भेद माना जाए तो केवल इतना ही भेद हो सकता है कि एक वाच्य है और दूसरा वाचक, अर्थात् 'स्वरूप' को जब भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त अथवा सम्प्रेषित किया जाता है वही लक्षण कहलाता है। यहाँ कहा जा सकता है कि नहीं; किसी वस्तु या विषय के स्वरूप में उसके विभिन्न धर्म अथवा गुण समाहित हैं और लक्षण लक्ष्यावच्छेदक का समनियत धर्म अथवा अव्याप्ति आदि दोष से रहित धर्म किंवा 'असाधारण धर्म' का कथन मात्र है। इतना तो स्पष्ट है कि लक्षण भी किसी वस्तु या विषय के स्वरूप का ही अंश है, अर्थात् 'लक्षण' स्वरूप का केन्द्रीय भाग है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फलतः 'लक्षण' स्वरूप ही है, और गंगेशोपाध्याय ने व्याप्ति स्वरूप के इस केन्द्रय भाग की, उसके विभिन्न विकल्पों अथवा सम्भावनाओं को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए, युक्तायुक्तत्व की मीमांसा की है न कि व्याप्ति के विभिन्न धर्मों या गुणों को लेकर।

दूसरे, डॉ. मिश्र ने स्वयं ने यह बतलाया है कि भारतीय दर्शन परम्परा में किसी स्तर पर स्वरूप एवं लक्षण को एक ही माना गया है। वे लिखते हैं, "शायद् इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन परम्परा में स्वरूप लक्षण की भी अवधारणा है। यह माना जाता है कि स्वरूप भी एक खास किस्म का लक्षण होता है। अथवा व्याप्ति का स्वरूप व्याप्य का लक्षण बनता है।" (वही, पृ॰ 51)

तीसरे, गंगेशोपाध्याय ने, डॉ. मिश्र के तथाकथित व्याप्तिं स्वरूपों की, पूर्वपक्ष के रूप में, व्याप्ति स्वरूपों (लक्षणों) की परीक्षा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि लक्षण के दोषों के आधार पर की है, जिनकी चर्चा स्वयं डॉ. मिश्र ने अपनी पुस्तक (पृ. 51–69) में की है, तब, ऐसा क्यों? कहने का अभिप्राय यह है कि 'लक्षण' की परीक्षा के मानदण्डों, अतिव्याप्ति आदि दोषों के आधार पर 'स्वरूप' की परीक्षा क्यों की गई है।

चौथे, गंगेशोपाध्याय ने व्याप्ति के पूर्वपक्षों की मीमांसा कर उनका खण्डन कर, अपने उत्तरपक्ष – सिद्धान्त पक्ष – को रखा है, जिसे 'सिद्धान्त लक्षण प्रकरण' के नाम से अभिहित किया गया है। डॉ. मिश्र लिखते हैं, "सिद्धान्त लक्षण प्रकरण' में उपर्युक्त रीति से व्याप्ति–स्वरूप का खण्डन कर देते हैं।" (वही, पृ॰ 69) यहाँ प्रश्न यह है कि जब व्याप्ति के स्वरूप का निर्वचन हो रहा है, तब, उसे 'सिद्धान्त लक्षण प्रकरण' कहने का क्या अभिप्राय है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यहाँ इतना ही कहना चाहेंगे कि 'स्वरूप' और 'लक्षण' एक है या भिन्न, इसका निर्णय हम अग्रज दार्शनिकों एवं आचार्यों पर छोड़ रहे हैं, उनका जो भी निर्णय होगा हमें स्वीकार होगा। अस्तु, हम गंगेश आदि आचार्यों द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में रखे तथाकथित स्वरूप को व्याप्ति–लक्षण ही मानकर विचार को आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे।

न्याय परम्परा में, यद्यपि अक्षपाद (300 ई॰पू॰) के न्याय–सूत्र, वात्स्यायन (300 ई॰) के न्यायसूत्रभाष्य और उद्योतकर (635 ई॰) की न्यायसूत्रभाष्य पर लिखित न्यायवार्तिक में व्याप्ति का कोई लक्षण नहीं किया गया है तथापि, वाचस्पति मिश्र (841 ई॰) की न्यायवार्तिक पर लिखित न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका (1.1.5 की टीका) में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से लिंग–लिंगी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के (नियत स्वाभाविक) सम्बन्ध को व्याप्ति कहा गया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र को हम न तो पारम्परिक नैयायिक मान सकते हैं और न ही एक स्वतंत्र प्रतिनिधि दर्शन; वे विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के टीकाकार मात्र थे। अतएव उनके मत पर यहाँ विचार समीचीन नहीं है। कालान्तर में, जयन्त (880 ई॰) ने न्यायसूत्र की वृत्ति न्यायमंजरी (अ. 1 प्रया. प्र. 1) में व्याप्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसका लक्षण किया है, "...व्याप्तिरविनाभावो नित्यसाहचर्यमित्यर्थ" अर्थात् व्याप्ति अविनाभाव है और अविनाभाव नित्य साहचर्य है। व्याप्ति के इस लक्षण का यदि पदकृत्य करें, तब वह निम्नलिखित रूप से होगा – व्याप्ति के इस लक्षण में से यदि 'व्याप्ति' पद को हटा दें तो व्याप्ति का लक्षण "अविनाभावो नित्यसाहचर्यमित्यर्थ" यह रह जाएगा। सम्भवतः इस लक्षण से यह ज्ञात नहीं होता है कि यह व्याप्ति का ही लक्षण है। अथवा व्याप्ति और अविनाभाव एक है। शायद, इसलिए इसमें 'व्याप्ति' पद को रखा गया है। परन्तु, दूसरी ओर 'व्याप्ति' पद को लक्षण में रखने पर उसमें 'आत्माश्रय दोष' आता है। फलतः व्यांप्ति के उक्त दोनों लक्षण ही युक्त नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब व्याप्ति और अविनाभाव दोनों पद समानार्थक हैं तब इस लक्षण में दोनों पदों को समाहित करने की आवश्यकता क्यों हुई? अस्तु, व्याप्ति का यह लक्षण दोषयुक्त होने के कारण न तो यह पदकृत्य के योग्य है और न ही अवधेय।

भासर्वज्ञ (975 ई॰) ने न्यायसार (पृ॰ 22) में व्याप्ति को अविनाभाव मानते हुए अविनाभाव का लक्षण किया है, "स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः", अर्थात् साध्य के साथ साधन के स्वाभाविक व्याप्ति सम्बन्ध को अविनाभाव कहते हैं। यह लक्षण भी, व्याप्ति और अविनाभाव दोनों पदों से समाहित होने के कारण आत्माश्रय दोष से ग्रस्त हैं। अतः यह न अवधेय है और न ही पदकृत्य के योग्य। उदयन (984 ई॰) ने यद्यपि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका–परिशुद्धि तथा आत्मतत्त्वविवेक में, दोनों में, व्याप्ति का लक्षण किया है तथापि परिशुद्धि, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की टीका होने के कारण, यहाँ अवधेय नहीं है। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। परन्तु आत्मतत्त्वविवेक में किये गये लक्षण पर विचार समीचीन है। उदयन ने आत्मतत्त्वविवेक (पृ॰ 116) में व्याप्ति को 'प्रतिबन्ध' पद से व्यवहृत करते हुए उसका लक्षण किया है, "प्रतिबन्धः स्वाभाविकः सम्बन्धः," अर्थात् प्रतिबन्ध; (व्याप्ति) स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस लक्षण का पदकृत्य किया जाए तब, एतदर्थ, पहले, लक्षण में आये 'प्रतिबन्ध' पद को हटाना होगा, तदन्तर शेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहे लक्षणांश को लक्षण मानते हुए यह देखना होगा कि इस लक्षण में क्या दोष आता है। फलतः लक्षण होगा, "स्वाभाविकः सम्बन्धः" और दोष होंगे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। अर्थात् यदि व्याप्ति के उक्त लक्षण में से 'प्रतिबन्ध' 'पद को हटा दिया जाए तब उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष होंगे। अतः उक्त लक्षण में प्रतिबन्ध पद को रखना अनिवार्य है। दूसरे, लक्षण में 'स्वाभाविक' पद को हटा दिया जाए तब व्याप्ति का लक्षण होगा; "प्रतिबन्धः सम्बन्ध"। अब, यदि व्याप्ति का यह लक्षण माना जाए तब उसमें अतिव्याप्ति दोष होगा; क्योंकि सभी सम्बन्ध व्याप्ति की श्रेणी में आ जाएँगे, जबकि सभी सम्बन्ध व्याप्ति नहीं होते हैं। तीसरे, उक्त लक्षण में आये 'सम्बन्ध' पद को हटा दिया जाए तब व्याप्ति का लक्षण होगा "प्रतिबन्धः स्वाभाविकः"। इसे व्याप्ति का लक्षण मानने पर उसमें असम्भव दोष होगा; क्योंकि मात्र 'स्वाभाविक' व्याप्ति का असाधारण धर्म नहीं है। फलतः व्याप्ति के उक्त लक्षण में से किसी भी पद को हटाना सम्भव नहीं है, तदपि व्याप्ति का उक्त लक्षण भी निर्दोष नहीं है; क्योंकि उसमें भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष है, वह इसलिए, पहले, सभी वस्तुओं में कोई–न–कोई स्वाभाविक संबंध अवश्य होता है जिसका निर्धारण सम्भव नहीं है। दूसरे, अनेक लिंग–लिंगी भाव–अभावात्मक या अभाव–भावात्मक किंवा अभावात्मक–अभावात्मक होते हैं जिनमें स्वाभाविक सम्बन्ध तो नहीं होता है किन्तु वे अनुमेय होते हैं। और न ही उक्त लक्षण से उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है; क्योंकि उक्त लक्षण से व्याप्ति के अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता है।

गंगेशोपाध्याय (1175 ई॰) ने तत्त्वचिन्तामणि में अनुमिति लक्षण के निरूपण के पश्चात् व्याप्ति लक्षण की विवेचना करने के प्रसंग में, चूँकि अनुमिति लक्षण में 'व्याप्ति' का अन्तर्भाव है, एतदर्थ अनुमिति ज्ञान के लिए व्याप्ति ज्ञान अपरिहार्य है, 'संगति' बतलाते हुए 'व्याप्ति पंचक प्रकरण' के आदि में यह प्रश्न उठाया कि "नन्वनुमितिहेतुव्यातिज्ञाने का व्याप्तिः?" अर्थात् अनुमिति को जानने के लिए जिस व्याप्ति ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है, वह 'व्याप्ति' क्या है? गंगेश ने पहले पूर्वपक्षीय व्याप्ति लक्षणों की समीक्षा की तथा बाद में उत्तर पक्ष – सिद्धान्त पक्ष – को प्रस्तुत किया। पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने व्याप्ति के पाँच, दो और चौदह लक्षणों की परीक्षा कर खण्डन किया है, जिन्हें क्रमशः व्याप्ति–पंचक, सिंह–व्याघ्र और पारिभाषिक या व्यधिकरण के नाम से जाना जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्यातव्य है, चूँकि गंगेश ने अनेक व्याप्ति लक्षणों की पूर्वपक्ष के रूप में परीक्षा कर, उनमें दोष दिखला कर, उन्हें त्याज्य बता दिया है। अतएव गंगेश द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में परीक्षित व्याप्ति लक्षणों की यहाँ पुनः परीक्षा नहीं की जा रही है, बल्कि यहाँ उनका उल्लेख मात्र किया जा रहा है।

गंगेश सर्वप्रथम 'अव्यभिचरित्व' अर्थात् अव्यभिचार का अभाव (हेतु में साध्य के व्यभिचार का न रहना) व्याप्ति के रूप में मान्य हो सकता है या नहीं, इस बात की परीक्षा के लिए व्याप्ति पंचक लक्षणों की परीक्षा की। वे लक्षण इस प्रकार से हैं : "तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्, सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम् ,साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।" इन पाँचों व्याप्तियों का एक साथ एवं एक वाक्य में खण्डन करते हुए गंगेश आगे लिखते हैं, "केवलान्वयिन्याभावात्।"। अतः इन लक्षणों में से यहाँ कोई लक्षण घटित नहीं हो सकता।

व्याप्तिपंचक लक्षणों के खण्डन के अनन्तर गंगेश ने 'अव्यभिचरित्व' के दो अन्य लक्षणों की भी परीक्षा कर उनका खण्डन किया है। वे लक्षण, सिंह और व्याघ्र उपनाम के दो दार्शनिकों के द्वारा उद्‌भावित होने के कारण, सिंह–व्याघ्र–लक्षण के नाम से प्रचलित हैं तथा इस प्रकार हैं, "नापि साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वम्", "साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वं वा"। इन दोनों लक्षणों का एक साथ खण्डन करते हुए गंगेश ने लिखा है कि साध्य के अनधिकरण में हेतु की वृत्तिभिन्नता को व्याप्ति नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसकी केवलान्वयी और यत्किंचित् साध्यक स्थलों में अप्रसिद्धि है।

इस प्रकार व्याप्तिपंचक एवं सिंह–व्याघ्र लक्षणों को त्याज्य बताकर गंगेश ने व्यधिकरण अथवा पारिभाषिक व्याप्ति की ओर संकेत किया है। ध्यातव्य है गंगेश ने, स्वयं ने, व्यधिकरण अथवा पारिभाषिक व्याप्ति लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है बल्कि उनकी ओर संकेत मात्र किया है। किन्तु तत्त्वचिन्तामणि की टीका तत्त्वदीधिति में रघुनाथ ने व्याप्ति के व्यधिकरण या पारिभाषिक लक्षणों का उल्लेख किया है जो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव की मान्यता पर आधारित है, उनकी चर्चा आगे की जाएगी। व्याप्ति के व्यधिकरण लक्षण मानने वालों का मत है कि प्रतियोगिता के अधिकरण में न रहने वाला धर्म व्यधिकरण धर्म भी प्रतियोगिता का अवच्छदेक हो सकता है तथा इस आधार पर व्याप्ति के अनेक लक्षण किये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गये हैं तथा किये जा सकते हैं। दूसरे अव्यभिचारित्व के लक्षणों अर्थात् व्याप्तिपंचक एवं सिंह–व्याघ्र लक्षणों में आये 'अव्याप्ति दोष' को 'व्यधिकरण– धर्मावच्छिन्नाभाव' मानकर हटाया जा सकता है। ज्ञातव्य है व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव मत को मानने वालों की मान्यता है कि इस प्रकरण में व्यभिचार तो साध्याभाववद् वृत्तित्व रूप से ही इष्ट है, किन्तु व्याप्ति शब्द का 'साध्या–भाववद् अवृत्तित्व' रूप यौगिक अर्थ नहीं है बल्कि पारिभाषिक है। इसलिए व्यधिकरण व्याप्तियों को पारिभाषिक व्याप्तियों के नाम से भी जाना जाता है। गंगेश ने अभाव की प्रतियोगिता में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्व का खण्डन कर व्यधिकरण व्याप्तियों का खण्डन करते हुए लिखा है कि जब व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न–प्रतियोगिता का अभाव ही अप्रामाणिक होने से अमान्य है तब उसकी मान्यता पर निर्भर व्याप्ति के लक्षण कैसे मान्य हो सकते हैं। अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नभाव पर आश्रित व्याप्ति लक्षण अग्राह्य हैं। गंगेश 'व्याप्तिपंचक' और 'सिंह–व्याघ्र' व्याप्ति लक्षणों के खण्डन की भाँति 'व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों' का खण्डन एक ही वाक्य 'प्रतियोग्यवृत्तिश्चधर्मों न प्रतियोगितावच्छेदक' द्वारा कर दिया।

व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों का खण्डन करने के पश्चात् गंगेश ने उस समय में प्रचलित, अन्य विद्वानों द्वारा उद्भावित, अनेक व्याप्ति लक्षणों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनका भी खण्डन किया। ऐसे व्याप्ति लक्षण निम्नलिखित रूप से हैं :–

"साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वं व्याप्तिः"।

"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

"साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वं व्याप्तिः।"

"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरण सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

"अनौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिः"।

"कार्त्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः"।

"यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धो व्याप्तिः"।

"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

"स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः"।

"अविनाभावो व्याप्तिः"।

"सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः"।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्याप्ति के उपर्युक्त सभी लक्षणों को – पूर्व पक्षों को – अग्राह्य बतलाने के बाद गंगेश व्याप्ति लक्षण के उत्तर पक्ष अर्थात् स्वमत को – सिद्धान्त लक्षण – को प्रस्तुत किया है :–

"प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगिता वच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।" अर्थात् जो प्रतियोगी के आश्रय में न रहने वाला तथा हेतु के आश्रय में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव उस अभाव की प्रतियोगिता के नियन्त्रक से नियंत्रित नहीं होता है, उसके साथ हेतु का एक आधार में रहना व्याप्ति है।

गंगेश के इस लक्षण में चार मुख्य दोष हैं : निषेधात्मकता, अनवस्था, अव्याप्ति तथा असम्भव। असम्भव इसलिए, पहले, यह असाधारण धर्म नहीं है, दूसरे, व्याप्ति के इस लक्षण द्वारा उसके प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। अतएव व्याप्ति के अन्य लक्षणों की भाँति यह भी अग्राह्य एवं त्याज्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गंगेश व्याप्ति पर इतनी सूक्ष्मता एवं गहनता से मीमांसा करने के बाद भी व्याप्ति का कोई सहज एवं युक्तिसंगत लक्षण नहीं कर पाये।

व्याप्ति के 'सिद्धान्त–लक्षण' को प्रस्तुत करने के पश्चात् गंगेश ने पाँच विशेष व्याप्ति लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं जो निम्नलिखित रूप से हैं :–

प्रथम, "प्रतियोगिव्यधिकरणस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावा–प्रतियोगिनासामानाधिकरण्यम्"।

द्वितीय, "यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगियद्वन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यम्"।

तृतीय, "यत्समानाधिकरणान्योन्याभावाप्रतियोगियद्वत्कत्वं व्याप्तिः"।

चतुर्थ, "अनौपाधिकत्वं व्याप्तिः, तच्च यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ता भावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यत्तत्प्रतियोगिकात्यन्ता–भावसमानाधिकरणं यत् तेन समं सामानाधिकरण्यम्"।

पंचम, "यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः"।

केशव मिश्र (1300 ई॰) ने व्याप्ति का लक्षण किया है : "तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः"। अर्थात् जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं।

केशव मिश्र के इस लक्षण पर विचार करें तब यह स्पष्ट होगा कि इस लक्षण का "साहचर्य नियमो व्याप्ति" इतना अंश ही व्याप्ति का लक्षण है, शेष उसका उदाहरण। इस लक्षण में आये तीनों शब्दों : 'सहचर्य', 'नियम'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और 'व्याप्ति' इनमें से किसी भी पद को हटा नहीं सकते; क्योंकि यदि 'साहचर्य' पद को हटा दिया जाए तब इसमें अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग आयेगा और यदि 'नियम' पद को हटा दिया जाए तब उसमें अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष आ जायेंगे; तथा 'व्याप्ति' को हटा दिया जाए तब उसमें असम्बन्ध दोष होगा। अतः व्याप्ति की सिद्धि करने में असमर्थ हैं : क्योंकि नैयायिकों के अनुसार प्रमा का मानदण्ड 'यथार्थता' है और उसका प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः अर्थात् प्रवृत्ति साफल्य और प्रवृत्ति वैफल्य पर निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में व्याप्ति लक्षण से होने वाले ज्ञान का प्रामाण्य एक अनवरत रूप से चलने वाली प्रक्रिया है। फलतः न्याय दर्शन में कोई भी लक्षण सदैव के लिए सम्भव नहीं है अथवा वे सभी लक्षण सम्भाव्य हैं। केशव मिश्र ने व्याप्ति का एक अन्य लक्षण भी किया है जो इस प्रकार है : "स्वाभाविक सम्बन्धो व्याप्तिः"। केशव मिश्र के इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है; क्योंकि स्वाभाविक सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं तथा वे सभी व्याप्ति की श्रेणी में नहीं आते हैं।

जैसाकि ऊपर गंगेश के मत के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए, व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों के सन्दर्भ में कहा जा चुका है कि गंगेश ने व्यधिकरण या पारिभाषिक व्याप्ति लक्षणों का संकेत मात्र करते हुए उनका खण्डन किया है, पूर्वपक्ष के रूप में उन लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु कालान्तर में तत्त्वचिन्तामणि की टीका तत्त्वदीधिति में रघुनाथ (1300 ई॰) ने उन व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों का उल्लेख किया है। किन्तु यह कहना मुश्किल है कि ये वे ही व्यधिकरण व्याप्ति लक्षण हैं या उनसे भिन्न हैं, जिनका खण्डन गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में किया था। खैर, जो भी हो, हैं वे व्यधिकरण व्याप्ति लक्षण ही। रघुनाथ ने तत्त्वदीधिति में चौदह व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों का उल्लेख किया है जिनमें से दो लक्षण आचार्य सौन्दड़ के, तीन–तीन लक्षण क्रमशः चक्रवर्ती, प्रगल्भ मिश्र, पक्षधर मिश्र और सार्वभौम द्वारा दिये गये हैं। वे चौदह लक्षण निम्नलिखित रूप से हैं :–

आचार्य सौन्दड़ के द्वारा किये गये लक्षण इस प्रकार हैं :–

प्रथम, "यत्समानाधिकरणाः साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न व्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताका यावन्तोऽभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम्"।

द्वितीय, "यत्समानाधिकरणानां साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न–व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां यावदभावानां प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं तत्त्वं वा तत्"।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चक्रवर्ती के द्वारा किये गये तीन लक्षण इस प्रकार हैं :—

प्रथम, "व्याप्यवृत्तेर्हेतुसमानाधिकरणस्य साध्याभावस्यप्रतियोगिताया अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकंतदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

द्वितीय, "हेतुसमानाधिकरण्यस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येनाऽनवच्छेदकं यत्सा ध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

तृतीय, "हेतुसमानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तेः प्रतियोगिव्यधिकरणस्य वा अभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधि—करण्येनाऽनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

प्रगल्भ मिश्र के द्वारा किये गये तीन लक्षण इस प्रकार हैं :

प्रथम, "साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक स्वसमानाधिकरणसाध्याभावकत्वम्"।

द्वितीय, "यत्समानाधिकरणसाध्याभावप्रमायां साध्यवत्ताज्ञान प्रतिबन्धकत्वं नास्ति तत्त्वं व्याप्तिरिति"।

तृतीय, "यत्तु साध्याभाववति यद्वृत्तौ प्रकृतानुमितिविरोधित्वं नास्ति तत्त्वं व्याप्ति इति"।

पक्षधर मिश्र के द्वारा किये गये तीन लक्षण इस प्रकार हैं :

प्रथम, "यावन्तः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीया ये तत्तदधिकरणवृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं तत्त्वम्"।

द्वितीय, "यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तेषां सजातीयस्य व्यापकीभूतस्य व्याप्यवृत्तरेभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन धर्मेण यद्यपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्रूते तद्रूपवत्त्वं तत्त्वम्"।

तृतीय, "यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्प्रतियोगितावच्छेदकेन धर्मेण यद्रूपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्यते तद्रूपवत्त्वं वा तत्वमित्याहुः"।

सार्वभौम के द्वारा किये गये तीन लक्षण इस प्रकार हैं :

प्रथम, "परेतु वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभाववद्वृत्तित्वा भावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः"।

द्वितीय, "अन्येतु वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्त साध्याभावसमुदाया धिकरणवृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वम्"।

तृतीय, "एतेनसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकरूपा वच्छिन्नप्रतियोगिता कव्याप्य—वृत्तिस्वसमानाधिकरणयावदभावाधिकरण वृत्तित्वाभावा यावन्तो वृत्तिमद्वृत्तस्तद्वत्त्वं व्याप्तिः"।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जानकीनाथ (1300 ई०) ने न्यायसिद्धान्त मंजरी में व्याप्ति के तीन लक्षणों : साध्यात्यन्ताभावदवृत्तित्व, साध्यवदन्यावृत्तित्व और कात्स्र्न्येन सम्बन्ध : का खण्डन कर व्याप्ति का लक्षण किया है,"साध्यसमानाधिकरण स्वसमानाधिकरणयावत्कत्व", अर्थात् हेतु समानाधिकरण जितने हैं वे सभी यदि साध्य के समानाधिकरण हों तो हेतु में साध्य की व्याप्ति होती है। इसी तरह जगदीश तर्कालंकार ने तर्कामृत में व्याप्ति का लक्षण किया है, "व्याप्तिश्च हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम्"।

न्याय परम्परा में, मुख्य रूप से, व्याप्ति के उपर्युक्त लक्षण ही प्राप्त होते हैं। अन्य लक्षण भी हो सकते हैं किन्तु इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने उपर्युक्त दार्शनिकों द्वारा किये गये लक्षण।

वैशेषिक परम्परा में व्याप्ति का स्पष्ट संकेत कणाद (100 ई०पू०) के वैशेषिक सूत्र में उपलब्ध होता है, जिसमें उन्होंने व्याप्ति को 'प्रसिद्धि' पद से अभिहित किया है। इस सन्दर्भ में उनका वक्तव्य द्रष्टव्य है," अन्यदेव हेतुरित्यनपदेश। अर्थान्तरंह्यर्थान्तरस्यानपदेश। प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य। अप्रसिद्धिऽनपदेशः"। वैशेषिक सूत्र के भाष्य पदार्थधर्म संग्रह में प्रशस्तपाद ने व्याप्ति के लिए 'समय', 'साहचर्य', 'अविनाभाव' आदि पद का उपयोग किया है। परन्तु न तो कणाद ने, और न ही प्रशस्तपाद ने, व्याप्ति का कोई लक्षण किया। उदयन (984 ई०) ने आत्मतत्त्वविवेक में व्याप्ति को 'प्रतिबन्ध' पद से व्यवहृत किया है तथा 'प्रतिबन्ध' का लक्षण किया है, 'प्रतिबन्धः स्वाभाविकः सम्बन्धः', और प्रशस्तपादभाष्य की टीका किरणावली में अनौपाधिक सम्बन्ध को, स्वाभाविक सम्बन्ध कहा है तथा व्याप्ति को स्वाभाविक सम्बन्ध के रूप में परिभाषित किया है, जैसा कि लिखा है, "प्रतिबन्धो नाम। अनोपाधिकः सम्बन्ध इति ब्रूमः।... तस्मादनौपाधिकत्वमेव स्वाभाविकत्वम्"। किन्तु जैसाकि ऊपर चर्चा की जा चुकी है, व्याप्ति को किसी प्रकार के सम्बन्ध के रूप में परिभाषित करने पर उसमें अनवस्था एवं अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग आयेगा। दूसरे, वैशेषिकसूत्रभाष्य की टीका कणादरहस्य में शंकर मिश्र के इस लक्षण में चक्रक दोष दिखलाकर उसका खण्डन किया है। अतएव व्याप्ति का यह लक्षण भी ग्राह्य नहीं है।

श्रीधर (991 ई०) ने पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद भाष्य/वैशेषिकसूत्र भाष्य) की टीका न्यायकन्दली में व्याप्ति को 'नियम' पद से अभिहित करते हुए कहा है कि किसी एक वस्तु या अन्य वस्तु के साथ स्वभावतः जो सम्बन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारित किया जाता है वही उपाधि–शून्य व नियत होने के कारण 'नियम' – व्याप्ति – कहलाता है। किन्तु नियम सार्वदेशीय और सार्वकालिक नहीं होते हैं। फलतः उनमें लाघव अथवा गौरव का प्रसंग आता रहता है और उनमें परिवर्तन करना होता है। अतः व्याप्ति को नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वल्लभाचार्य (1150 ई॰) ने न्यायलीलावती में व्याप्ति का लक्षण किया है, "अनौपाधिकत्व", जैसाकि वल्लभाचार्य ने लिखा है, "किं पुनस्या लक्षणम्? अनुपाधिकत्वम्"। यह लक्षण भी युक्तियुक्त नहीं हैं ; क्योंकि यह अपूर्ण है। वल्लभाचार्य ने एक अन्य लक्षण यह किया है कि "कात्स्न्र्य रूप से साधन में रहने वाला साध्य का साहचर्य व्याप्ति है"। गंगेश ने इसका खण्डन किया है कि कात्स्न्र्येन साधन का साध्य के साथ जो सम्बन्ध प्रतिपादित किया जाता है उसके विषम–व्याप्ति विशिष्ट स्थलों में अव्याप्त होने के कारण व्याप्ति नहीं माना जा सकता। वर्धमानोपाध्याय (1150 ई॰) ने न्यायलीलावती के अपने प्रकाश नामक व्याख्या ग्रन्थ में कात्स्न्र्य लक्षण का खण्डन कर व्याप्ति के दो लक्षण किये हैं। वर्धमानोपाध्याय ने कात्स्न्र्य का खण्डन करते हुए लिखा है कि जहाँ साध्य और साधन एक–एक व्यक्ति हैं वहाँ कात्स्न्र्य घटित लक्षण उपपन्न न होगा, फलतः पृथिवीत्व में द्रव्यत्व की व्याप्ति नहीं बन सकेगी। खण्डन के उपरान्त वर्धमान ने व्याप्ति के दो लक्षण किये हैं : प्रथम, "यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं मस्य तस्य सा व्याप्तिः", और द्वितीय, "यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगि यद्वन्न भवति तेन समं सामानाधिकरण्यम्"। शंकर मिश्र (1425 ई॰) ने भी कात्स्न्र्येन सम्बन्ध का खण्डन किया है। इसका खण्डन करते हुए कहा है, यदि कात्स्न्र्येन सम्बन्ध में साध्य के साथ जो हेतु का सम्बन्ध है उसी को यदि व्याप्ति कहा जाए तो तर्कसंगत नहीं होगा; क्योंकि 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' यहाँ विषम व्याप्त धूम में उक्त व्याप्ति का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है क्योंकि प्रभा मण्डल रूप, ऊपरिप्रदेश–निष्ठ धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध नहीं है। अन्य शब्दों में, कात्स्न्र्येन सम्बन्ध व्याप्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता; क्योंकि 'कृत्स्न' पद यदि साध्य के साथ सम्बन्धित मानें तो सम्पूर्ण साध्यों का हेतु के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। अयोगोलकीय वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार कृत्स्न का हेतु के साथ सम्बन्ध मानें तब भी सभी हेतुओं का साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। महानसीय धूम का पर्वतीय वह्नि रूप साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। शंकर मिश्र ने उक्त लक्षण का खण्डन कर कणादरहस्य में व्याप्ति का लक्षण किया है, "हेतु के आश्रय में रहने वाले सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्मों के आश्रय में रहने वाले साध्य के आश्रय में वर्तमान होना व्याप्ति है।" जैसा कि कणादरहस्य में लिखा है "नैवं साधनसमानाधिकरणयावद्धर्म–समानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात्"। किन्तु व्याप्ति का यह स्वरूप व्याप्ति सामान्य का लक्षण नहीं हो सकता है। अतः यह त्याज्य है। इसके अतिरिक्त शंकर मिश्र ने कण्ठाभरण – न्यायलीलावती की व्याख्या – में छः व्याप्तियों का खण्डन कर तीन व्याप्ति लक्षणों को मान्यता प्रदान की है। वे छः व्याप्ति लक्षण निम्नलिखत हैं – पहले, "कात्स्न्र्येन सम्बन्धोः व्याप्ति", दूसरे, "स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः", तीसरे, "अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः", चौथे, "अविनाभूतः सम्बन्धो व्याप्तिः", पाँचवे, "अव्यभिचारिणः सम्बन्धो व्याप्तिः", और छठे, "साधनसमानाधिकरणयावद् धर्मनिरूपितवैयं–धिकरण्यानधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यम्"। इन व्याप्ति लक्षणों में से प्रथम का खण्डन ऊपर किया जा चुका है। दूसरे लक्षण का खण्डन इस आधार पर किया है कि स्वाभाविक के दो अर्थ सम्भव हैं : 'स्वभावजन्य' अथवा 'स्वभावाश्रित', किन्तु इनमें से कोई भी अर्थ मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ साध्य–साधन का सम्बन्ध समवाय होगा, वहाँ व्याप्ति समवाय–स्वरूप होगी, जिसमें नित्य होने से स्वभावजन्यत्व और असमवेत होने से स्वभावाश्रितत्त्व बाधित होगा। तीसरे लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष है तथा चौथे में व्यभिचार है, और पाँचवे लक्षण का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि अव्यभिचरित का अर्थ है व्यभिचरितभिन्न, और व्यभिचार है साध्यशून्यवृत्तित्व, जो केवलान्वयी वाच्यत्व आदि के प्रसंग में अप्रसिद्ध है, जिसके फलस्वरूप केवलान्वयी की व्याप्ति नहीं बन सकेगी। छठे लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि 'साध्यसमानाधिकरण यावद्धर्मनिरूपित वैयधिकरण्य' का अर्थ चाहे सभी धर्मों के अधिकरण में अवृत्तित्व किया जाय या चाहे सभी धर्मों के अनधिकरण में वृत्तित्व किया जाय, दोनों ही स्थिति में साधनसमानाधिकरण यावद्धर्म के अधिकरण की प्रसिद्धि होना आवश्यक है, जो नितान्त असम्भव है; क्योंकि साधन धूम के समानाधिकरण पर्वतत्व, महानसत्व आदि सभी धर्मों का कोई एक अधिकरण सर्वथा असम्भावित है।

शंकर मिश्र ने उक्त व्याप्तियों का खण्डन कर निम्नलिखित तीन व्याप्तियों को मान्यता प्रदान की है :–

प्रथम, "साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य सामानाधिकरण्यम्"। अर्थात् साधन के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण में रहना।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वितीय, "साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वम्" । अर्थात् साध्याधिकरण का साधन के अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का अप्रतियोगी होना।

तृतीय, "साधनसमानाधिकरणधर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरण साध्यसामानाधिकरण्यम्" । अर्थात् साधन के अधिकरण में रहने वाले धर्म के अव्यधिकरण साध्य का समानाधिकरण होना। ध्यातव्य है व्याप्ति का लक्षण समानाधिकरण नहीं हो सकता है क्योंकि दो वस्तुओं या विषयों का; एक ही अधिकरण नहीं हो सकता है। फलतः इनमें असम्भव दोष है।

लौंगाक्षि भाष्कर (1625 ई॰) ने तर्ककौमुदी में व्याप्ति का लक्षण करते हुए कहा है कि अव्यभिचरित साध्य के साथ हेतु के सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है। व्याप्ति के अव्यभिचरितत्व रूप लक्षणों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। अतः व्याप्ति का यह लक्षण भी स्वीकार्य नहीं है। विश्वनाथ न्याय–पंचानन (1634 ई॰) ने भाषापरिच्छेद–कारिकावली में व्याप्ति के दो लक्षण बताये हैं जो इस प्रकार से हैं –

प्रथम, "साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्धः" अर्थात् साध्यवान् से अन्य में हेतु का सम्बन्ध न होना।

द्वितीय, "अथ वा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना, साध्येन हेतोरैका धिकरण्यं व्याप्तिः"। अर्थात् हेतु के अधिकरण में वृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के साथ एक अधिकरण में रहना। ये दोनों लक्षण भी अग्राह्य हैं; क्योंकि पहले में अनवस्था आदि दोष हैं तथा दूसरे में असम्भव आदि दोष देखे जा सकते हैं।

अन्नम्भट्ट (1690 ई॰) ने तर्कसंग्रह में व्याप्ति का लक्षण किया है, "यत्र यत्र धूमस्तत्त तत्राग्निः' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः", अर्थात् " जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्ति का यह लक्षण भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि, पहले, जगत् में ऐसा कोई नियम नहीं जो सार्वदैशिक और सार्वकालिक हो, दूसरे ज्ञान का प्रामाण्य परतः होने के कारण कोई भी नियम, नियम के साथ, सिद्ध नहीं है, तीसरे, प्रमा का मानदण्ड है 'यथार्थता' जो सम्भव नहीं है। अतः कोई लक्षण निर्दोष है यह नहीं कहा जा सकता।

सांख्य परम्परा में, यद्यपि, सांख्यसूत्र में सार रूप से 'व्याप्ति' की चर्चा मिलती है तथापि उत्तरवर्ती ग्रंथों – सांख्यकारिका, माठरवृत्ति, गौडपाद–भाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदि आदि में व्याप्ति की चर्चा नहीं की गई है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कपिल ने सांख्यसूत्र में अनुभव की चर्चा करते समय, व्याप्ति का लक्षण किया है,"नियतधर्म– साहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः।"सांख्यसूत्र, 5.29 अर्थात् दोनों अथवा एक का नियत धर्म साहचर्य व्याप्ति है।

सांख्यप्रवचनभाष्य में व्याप्ति के इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि साध्य के साथ, साध्य–साधन दोनों का अथवा साधन मात्र का जो नियत व्यभिचारशून्य साहचर्य है वही व्याप्ति है। व्याप्ति के इस लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष हैं; क्योंकि सांख्य के अनुसार ज्ञान और कुछ नहीं है वह चित्तवृत्ति है। दूसरे ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः है। ऐसी स्थिति में अनेक बार दोष विषयक नियत धर्म साहचर्य की चित्तवृत्ति बनती ही नहीं है जबकि उनमें साहचर्य होता है और अनेक बार जिन दो विषयों या पदार्थों में साहचर्य नहीं है किन्तु तमो गुण के आधिक्य के कारण ज्ञान के अयथार्थ होने पर भी चित्तवृत्ति बन जाती है। फलतः इसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष का प्रसंग आ सकता है।

योगदर्शन में व्याप्ति की कोई चर्चा नहीं मिलती है। यद्यपि पतंजलि (150 ई॰पू॰) के भाष्य योगसूत्रभाष्य में व्यास ने सम्बन्ध की चर्चा की है और व्याप्ति भी एक सम्बन्ध है तथापि सम्बन्ध मात्र को तो व्याप्ति स्वीकार नहीं कर सकते हैं। परिणामस्वरूप योगदर्शन में व्याप्ति का कोई लक्षण उपलब्ध नहीं होने के कारण यहाँ व्याप्ति लक्षण के सन्दर्भ में कोई चर्चा सम्भव नहीं है।

मीमांसा दर्शन का यद्यपि मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'धर्म' है, अर्थात् वेदों की धर्मपरक व्याख्या करना तथापि कुछ मीमांसक ग्रन्थों में अनुमान आदि प्रमाणों की चर्चा है। अतएव मीमांसा दर्शन में व्याप्ति विचार का मुख्य विषय नहीं होने के कारण व्याप्ति की चर्चा विस्तार से नहीं बल्कि आंशिक रूप से ही की गई है। मीमांसा दर्शन में भी, अन्य दर्शनों की भाँति व्याप्ति को नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार, अविनाभाव आदि पदों से अभिहित किया गया है। कुमारिल भट्ट (760 ई॰) के अनुसार नियमतः व्याप्य और व्यापक का प्रयोग करना ही व्याप्ति है। नारायण भट्ट ने मानमेयोदय में "का पुनरियं व्याप्तिः" यह प्रश्न उठाकर व्याप्ति का लक्षण किया है, "स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः", अर्थात् स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है। चिन्नास्वामी शास्त्री अर्वाचीन मीमासंक ने तन्त्र–सिद्धान्त–रत्नावली में व्याप्ति का लक्षण किया है, "सम्बन्धनियमो व्याप्ति", अर्थात् नियम रूप सम्बन्ध व्याप्ति है। पार्थ सारथि मिश्र (900 ई॰) के अनुसार व्याप्ति नियम रूप सम्बन्ध ही है जिसमें संयोग आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध निहित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभाकर (775 ई॰) के मत को प्रस्तुत करते हुए शालिकनाथ (790 ई॰) ने व्याप्ति के सन्दर्भ में लिखा है कि नियत तथा अव्यभिचरित कार्य–कारण–भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति है। मीमांसक दार्शनिकों के व्याप्ति के उक्त लक्षणों में वे सभी दोष हैं जो उपर्युक्त व्याप्ति के क्रमशः सम्बन्ध अथवा अव्यभिचरित लक्षण रूप में दर्शाए गये हैं। अतएव व्याप्ति के उक्त लक्षण न तो युक्त हैं और न ही ग्राह्य।

वेदान्त परम्परा में बादरायण (100 ई॰पू॰) के ब्रह्मसूत्र में व्याप्ति की कोई चर्चा नहीं की गई है। किन्तु श्रीहर्ष (1190 ई॰) तथा चित्सुखाचार्य (1225 ई॰) ने यद्यपि अन्य परम्पराओं के पूर्वपक्ष में व्याप्ति लक्षणों का खण्डन किया है तथापि उनके लक्ष्य प्रचलित व्याप्ति लक्षणों के खण्डन तक सीमित होने के कारण, उन्होंने कोई उत्तरपक्ष–स्वमत अथवा सिद्धान्त पक्ष प्रतिपादित नहीं किया। कालान्तर में, धर्मराजाध्वरीन्द्र (1560 ई॰) की वेदान्त परिभाषा में हमें व्याप्ति का लक्षण मिलता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने व्याप्ति का लक्षण किया है, "व्याप्ति अशेष–साधनाश्रयाश्रित– साध्य–सामानाधिकरण्यरूपा" अर्थात् अशेष साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण व्याप्ति है। शिवदत्त (1810 ई॰) ने, धर्मराजाध्वरीन्द्र के द्वारा किये गये व्याप्ति लक्षण को परिष्कृत करते हुए, वेदान्त परिभाषा की टीका अर्थदीपिका में व्याप्ति का लक्षण किया गया है, "साधनतावच्छदेक धर्म से विशिष्ट साधन के अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है। ध्यातव्य है धर्मराजाध्वरीन्द्र तथा विशवदत्त के उक्त लक्षणों में वे सभी दोष हैं जो गंगेशोपाध्याय के सिद्धान्त लक्षण में थे। उन दोषों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अतः उक्त दोनों लक्षण त्याज्य हैं। विशिष्टाद्वैत दार्शनिक श्रीनिवासदास ने यतीन्द्रमतदीपिका में व्याप्ति का लक्षण किया है कि निरूपाधिक नियत सम्बन्ध व्याप्ति है। इस लक्षण में मी वे सभी दोष हैं जो दोष व्याप्ति को सम्बन्ध के रूप में लक्षित करने में आते हैं।

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग (480 ई॰) के पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में व्याप्ति का कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्ति (635 ई॰) की वार्त्तिक, प्रमाणवार्त्तिक, में कार्य–कारण भाव या स्वभाव पर आधारित अविनाभाव या अवश्यभाव व्याप्ति माना गया है, जैसा कि प्रमाणवार्त्तिक में लिखा है "कार्यकारणभावाद् स्वभावाद् वा नियामकात्, अविनाभाव नियमोऽदर्शनान्नातु दर्शनात्"। धर्मकीर्ति ने अपने एक अन्य ग्रन्थ न्यायबिन्दु में व्याप्ति को 'स्वभाव प्रतिबन्ध' पद से व्यवहृत किया है, किन्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वभाव प्रतिबन्ध का लक्षण नहीं किया गया है। शान्तरक्षित (720 ई॰) के तत्त्वसंग्रह में अविनाभाव को व्याप्ति कहा गया है। कर्णगोमी ने अपनी टीका में व्याप्ति का लक्षण किया है, कार्य स्वभाव आदि लिंगों का साध्य धर्म के अभाव में न पाया जाना ही अविनाभाव है, जैसा कि लिखा है, "कार्यस्य स्वभावस्य च लिंगस्याविभावः साध्यधर्म विना न भाव इत्यर्थः।" गंगेश ने बौद्धों के व्याप्ति के अविनाभाव रूप का खण्डन किया है। गंगेश के अनुसार साध्य के अभाव में साधन का न होना अथवा साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का अभाव पाया जाना रूप अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि केवलान्वयी अनुमान में जहाँ कोई विपक्षभूत दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं होता वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी। अतएव बौद्धों द्वारा किया गया व्याप्ति लक्षण भी अग्राह्य है।

जैन परम्परा में अंग, उपांग, छेद, कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थों और उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, सिद्धिसेन दिवाकर के न्यायावतार आदि ग्रन्थों में व्याप्ति की चर्चा नहीं मिलती है। अकलंकदेव (750 ई॰) ने जैन परम्परा में पहली बार प्रमाण की चर्चा को न्याय तथा बौद्ध परम्परा के समकक्ष खड़ा करने का प्रयास किया है। माणिक्यनन्दी (800 ई॰) ने परीक्षामुख (सूत्र 3.12) में जैन परम्परा के प्रमाण विषयक चर्चा विस्तार से एवं व्यवस्थित रूप से की है। माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख में व्याप्ति का लक्षण किया है, "सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव" अर्थात् सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं। हेमचन्द्र (1125 ई॰) ने प्रमाण मीमांसा में व्याप्ति का लक्षण किया है, "व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः" अर्थात् व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही अथवा व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना व्याप्ति है। धर्मभूषण यति (विक्रम : 15वीं सदी) ने न्यायदीपिका में व्याप्ति का लक्षण किया है, "साध्य–साधन–योर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचार–गन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभाव इति च ....", अर्थात् साध्य और साधन में गम्य और गमक भाव का साधक और व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं, उसी को अविनाभाव भी। जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये ये लक्षण उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न नहीं है। लक्षण चाहे अविनाभाव रूप हो या नियम रूप अथवा सम्बन्ध रूप, तीनों ही रूपों में व्याप्ति का लक्षण युक्ति संगत एवं निर्दोष नहीं है, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अतः ये लक्षण भी अग्राह्य एवं त्याज्य हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार ऊपर व्याप्ति लक्षण की, विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं एवं दार्शनिकों के अनुसार. परीक्षा की गई, जिसमें यह पाया गया कि व्याप्ति का कोई भी लक्षण युक्ति युक्त एवं निर्दोष नहीं है। इसके मुख्यतः चार कारण हैं – पहले, व्याप्ति के लिए दो वस्तु या विषयों अथवा पदार्थों की अनिवार्यता, दूसरे, व्याप्ति को सम्बन्ध अथवा नियम के रूप में देखना, तीसरे, व्याप्ति को सार्वदैशिक स्वीकार करना और चौथे, व्याप्ति का लक्षण तर्कबुद्धि एवं अल्पज्ञों द्वारा किया जाना और अल्पज्ञों द्वारा ही समझा जाना। अब, यदि इन चार कारणों के साथ व्याप्ति का लक्षण किया जाय, तब, ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकर कर, 'समानान्तर सत्' अथवा 'सह–अस्तित्व' के रूप में व्याप्ति को परिभाषित या लक्षण करना होगा। यद्यपि इस रूप में किया गया लक्षण भी पूर्णतः निर्दोष नहीं होगा किन्तु वह अधिक युक्तियुक्त तथा व्यवहारोपयोगी अवश्य होगा।

स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
एम.एस.जे. राजकीय महाविद्यालय,
भरतपुर (राज.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत् पर विचार

मुकुन्द लाठ

चेतना हमारी सहज ही सत् की ओर उन्मुख होती है : उसकी उन्मुखता का स्वभाव ही यही उभरता दीखता है। पर विचित्र है कि फिर भी सत् हमारी चेतना से व्यवहित रहता है, हम उसका संधान ही करते रहते हैं। आश्चर्य नहीं कि सत् पर हमारे विचार में यह विपर्यस्त उन्मुखता भी बद्धमूल है कि चेतना की सत्–उन्मुखता के परे सत् अपने आप में कुछ नहीं है। 'माया', 'कल्पना', 'विकल्प–मात्र' .... ऐसी धारणाओं में बसी दृष्टि सत् के निराकरण की ओर उन्मुख जान पड़ती है। इस दृष्टि में चेतना का साम्मुख्य मिथ्या से होता है, सत् से नहीं। पर दृष्टि की इस दिशा में सत् से इनकार नहीं है, क्योंकि यह दृष्टि चेतना को – चित् को – सत् मानने की ओर तो उन्मुख रहती ही है। और तभी चेतना को अपने बाहर, अपने परे, जो प्रतीत होता है उसे सत् का मिथ्या आभास या माया, कल्पना या विकल्प–मात्र ... . जैसे नाम देती है। कहने का अर्थ यह कि सत् के निराकरण की दृष्टि विषयी को या विषयी के परम या परमार्थ स्वरूप को कहिये – सत् ठहराती है और विषय को असत् : विषय को विषयी में अनात्मभाव से (स्वरूप–च्युत असत्–रूपसे) निहित मानती है, उसे सत् पर मिथ्या का आरोप या अध्यास निर्णीत करती है। यह विचित्र असत्, जो न होता हुआ भी विषय रूप से विषयी के लिये उपस्थित होता है, यह क्या है?, कहां से आया?, क्यों है?, किस लिये है?, ये सवाल अनायास ही उठते हैं; क्योंकि विषयी ही अगर सत् है तो विषय का होना पहेली ही ठहर सकता है, या इससे भी बढ़कर, उलटबाँसी ही बन खड़ा होता है। तभी इसे सत् और असत् इन दोनों कोटियों से निकाल कर विचार की एक परंपरा ने इसे त्रिशंकु की तरह अधर में झुला दिया है। इसके लिये अलग ही अनहोनी कोटि बना दी है : सत–असत–विलक्षण 'वह जो न है, न नहीं है'।

यहां प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकते। इस अनहोनी का होना कैसा? अगर विषयी के सिवा कुछ है ही नहीं तो यह सदसद्विलक्षण क्या है? है कहां? इसका स्वरूप, इसका अधिष्ठान क्या है? हम जानते हैं कि इन प्रश्नों का उत्तर दिया गया है, पर कोई युक्त उत्तर बनता दिखता नहीं है। विषयी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही अगर अकेला, अद्वय सत् हो तो विषय 'सर्वथा नहीं होने' के अर्थ में ही असत् हो सक़ता है, उसके साथ सत् को 'होने' के किसी भी अर्थ में युगनद्ध किया ही कैसे जा सकता है? उसका प्रतीत होना – उसका आभास – इसकी भी कैसे कोई (विलक्षण ही सही) संभावना बन सकती है?

और फिर यह भी सोचिये। अगर ऐसी बेढब अनहोनी बनती ही है, और बनती ही नहीं एक पूरे ब्रह्माण्ड, एक परम विराट् सृष्टि का, जगत् का, रूप लेती है, जिसके हम एक (अणु से) अंग हैं, तो एक दूसरी तरह का प्रश्न गहरे सता सकता है : यह इन्द्रजाल–सा होना ही अगर होता हैं तो होता भला क्यों है? इस अनहोने–होने का कोई अर्थ भी है क्या ? स्पष्ट ही जो दृष्टि इसे 'माया', 'विकल्प' .... या सदसद्विलक्षण ठहराती है, वह इसे 'तुच्छ' या निरर्थक भी ठहराती है। इस दृष्टि के मर्म में तो तात्पर्य यही उभरता दीखता है कि जगत् किसी रूप में है भी तो इस के होने का कोई अर्थ नहीं। होना और होने का अर्थ, हम इसकी आगे विस्तृत चर्चा करेंगे।

पर यहां कहना न होगा कि अगर विषयी ही हो तो विषय की वह तुच्छ, निरर्थक ही सही–कल्पना ही संभव नहीं। विषयी को फिर विषय के अधिष्ठान के रूप में किसी भी तरह आँका–समझा ही नहीं जा सकता है। पर निरालंब विषय के मानी क्या? उसे 'सत् असत् दोनों से अलग' कहकर उसकी अयुक्त, असंगत, अनहोनी–सी अलग कोटि बना देने से बात कैसे बन जाती है! विषयी अगर अद्वय सत् हो तो उसके साथ किसी तरह के असत् के संश्लिष्ट होने की बात ही समूल अप्रतिष्ठ ठहरती है।

पर इतने कुछ तर्क के बाद भी कहना ही होगा कि विषय का अनुभव तो होता ही है। और इस अनुभव के स्वरूप–स्वभाव को सत्–असत्–विलक्षण भी कहा जा सकता है। हम पाते हैं कि हमारा अनुभव, हमारे अनुभव का समूचा जगत्, सत् और असत् इन स्वतो–विरोधी अनमिल तत्त्वों के अनहोने मेल से ही बनता है। हमारा अनुभव अनिवार्य भाव से ऐसे विषम, विसंगत द्वंद्व में बसता है जहां सत् सचमुच विलक्षण भाव से असत् संश्लिष्ट होता है, जहां असत् के बिना सत् की कल्पना ही संभव नहीं – इस विरोधी, स्वतोनिषेधी घोर अनमेल द्वंद्व के बिना हमारा और जिस जगत् में हम रहते हैं उसका होना बनता ही नहीं दीखता। होने के अपने अनुभव की जड़ में हम थोड़ा भी उतर कर देखें तो एक अगाध–सी गहरी अनहोनी हमारे विषय–बोध में जागती रहती है : जो है वह बिलकुल कुछ और हो सकता था, बिलकुल नहीं भी हो सकता था! यों अपने होने में, होने के गहनतम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोध में, हम पाते हैं कि सत् असत् को साथ समोये रखता है। यों हम अपने होने की, अपने होने के अनुभव की, कुछ भी ईक्षा करें, उस पर थोड़ा भी विचार करें तो उसे सदसद्विलक्षण कह देना कोई विलक्षण बात नहीं जान पड़ती; शंकर ने उसे ठीक ही सत्य और अनृत का मिथुन कहा है। फिर, एक विलक्षण सी बात यह भी सोचिये : सत् का 'होना' जैसी विषम पहेली है; असत् वैसी पहेली नहीं खड़ा करता – सहज ही कुछ भी नहीं हो सकता था, इसमें अचंभा क्या, पहेली क्या? पहेली तो होना ही है। होना पहेली ही नहीं, असंभव–से अथाह विस्मय–भरे अनहोने चमत्कार की बात है। ईक्षा की देखती आँख से देखें तो अचंभा होना ही है, न–होना नहीं। एक पुरानी, बड़ी पैनी उक्ति है जिसे यहां याद कीजिये : जीवे को आश्चरज है, मरे को अचरज नाहिं। प्रश्न तो होना ही खड़ा करता है – चाहे हमारी सहज बुद्धि यही कहती रहती हो कि 'सत् का अभाव नहीं हो सकता' और 'असत् का भाव न हीं हो सकता'। आपात दृष्टि से 'न होना' हमारी समझ को कितना ही बेतुका और अनबूझ लगता हो, पर 'न होने' के बिना हम अपने होने को समझ भी नहीं सकते, उसकी कल्पना नहीं कर सकते। यहां तक कि अपने होने के बोध में ही हम होने को भाव–अभाव का युग्म पाते हैं। होना हमारे लिये नहीं होने को अपने भीतर रखता हुआ होता है !

जिस जगत् में हम रहते–जीते हैं उसे ही देखिये तो साक्षात् है कि नानात्व में बसता हमारा नामरूप का संसार, हमारी रहनी, उसकी हमारी पकड़, समझ, हमारा आठ पहरी व्यवहार, 'होने' के साथ 'नहीं होने' को अविनाभावेन युगनद्ध रखता है, उसे साथ रखे बिना बनता ही नहीं : सामने जिस कम्प्यूटर पर मैं बैठा लिख रहा हूं, वह 'कम्प्यूटर नहीं होने' के अभाव को अपने होने के भीतर ही पालता है, नहीं तो उसका अपना विशिष्ट अनन्यथा होना नहीं बन सकता। मेरा लिखना तो और भी स्पष्ट भाव से मेरे 'कुछ और नहीं करने (और यों कुछ और नहीं होने)' के साथ गुँथा रहता है, उसे अपने होने के भीतर ही पिरोये रखता है : हम यह जानते ही नहीं रहते कि हम कुछ और हो सकते थे, बल्कि हम कुछ और होना साधते भी रहते हैं। यों न होना तो हमारे साथ सप्तपदी चलता रहता है। अपने होने में हम कुछ और हो सकने के बोध को ही नहीं, बिलकुल न होने के बोध को अपने होने के मर्त्यमर्म में पाये रहते हैं। तो, होने, नहीं होने, इन दोनों के गुँथे–गठे प्रतीप ताने बाने के बिना न हमारी, न हमारे नानात्व–लिये जगत् की बुनावट संभव है। होने के साथ न–होने के विलक्षण मेल के बिना हम अपनी और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने जगत् की कल्पना, उसका विचार, उसकी समझ, उसकी बात, कुछ नहीं कर सकते : ये भाषानुविद्ध व्यापार हैं, और है – नहीं– है के द्वंद्व से बनी भाषा के बिना हमारा जगत्, हमारा (मनुष्य का) जगत् नहीं होगा। और बात यहां केवल समझ, कल्पना, विचार, इनकी ही नहीं है। बात हमारे जीते–जागते अनुभव की है जो नाम रूप है : हमारा जगत्–हमारा जीवन–हमारा व्यवहार–भाषा में अपने होने की जड़ तक बसा है, तभी नाम रूप है। और भाषा अपने स्वरूप–स्वभाव से ही विरोधी द्वंद्वों के ताने बाने से बुनी होती है या होने के साथ न होने का युगल–ब़ोध वहां आधारगत होता है। इस आधारगत–विरोध–को–पालते द्वंद्व के बिना हम, हमारा संसार, हमारा व्यवहार, अकल्पनीय है। होने के साथ न होने का विलक्षण विपर्यस्तमेल–या कहिये भाव–अभाव, सत्–असत् का विलक्षण द्वंद्व–हमारे विचित्र होने की बुनावट है। यों अगर हम और हमारा जगत् ही जब सत् और असत् के विषम युगल से बना है, तो इन दोनों विरोधियों से विलक्षण ठहरता ही है। उसे फिर सदसद्विलक्षण कहने में अनहोना या विसंगत या विलक्षण क्या? उसका तो लक्षण ही यही है! उसे यही कहना संगत जान पड़ता है। पर अनुभव के इस अनिवार्य द्वंद्व में एक और अनिवार्यता देखी जा सकती है : हम साधते सत् ही हैं, असत् का निवारण ही हमारे 'होने' का गभीरतम अभिप्राय भी होता है। सत् ही हमारी जिज्ञासा का, हमारे संधान का, अर्थ होता है। तभी असत् को सत् समझ लेना हमारे लिये अज्ञान की कोटि में आता है। यों तो अज्ञान का एक सतही अर्थ यह भी हो सकता है : 'ऐसा कुछ जो हमारे ज्ञान में – बोध में – नहीं आया है, जिससे हम अनभिज्ञ हैं'। पर यह अर्थ नगण्य है। क्योंकि जिसका बोध नहीं था उसका बोध होना 'सत् का बोंध' नहीं होता, उसके असत् होने की संभावना बनी रहती है। तभी, सच पूछें तो अज्ञान का अर्थ 'असत् का सत् के रूप में बोध' होता है। और तभी अद्वैत में सत् का ज्ञान असत् को सर्वथा नकार देता है, उसका होना फिर कहीं, किसी रूप में होता ही नहीं, वह सचमुच ही अप्रतिष्ठ हो जाता है। जैसे रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञान उसमें भ्रांति से दिखते साँप को बिलकुल नकार देता है, उसे कहीं का नहीं रखता, उसके होने का सर्वथा विलोप साध देता है, उसे नितांत निरालंब कर देता है : वह 'होता ही नहीं', नितांत बाधित हो जाता है। फिर उस साँप का, क्या है, कहां हैं, कुछ नहीं रहता। वह न देश में रहता है न काल में। यह ठीक है, उसकी प्रतीति थी। पर वह प्रतीति अब प्रतीति मात्र ठहरती है जिसका कोई आधार, कोई अधिष्ठान नहीं। प्रतीति के साँप को सत्, असत्,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दोनों से विलक्षण कहें तो अयुक्त नहीं जान पड़ता। प्रतीति का साँप जब तक रहता है, सत् प्रतीत होता है, पर वास्तव में 'होता' कुछ नहीं। प्रतीति के मिट जाने के साथ ही वह मिट जाता है, केवल रज्जु–रूप सत् रह जाता है। परमसत् (ब्रह्म) अद्वय है, निर्द्वद्व है। वह बोध में जाग उठे, उसका ज्ञान हो जाये, तो वही 'होता' है, प्रतीत होते जगत् का निःशेष लोप हो जाता है। यह अनुभव में जागते जगत् के निराकरण का एक रास्ता है। और भी हो सकते हैं। एक रास्ता उपपत्ति के माध्यम से भी बनता है। हमने देखा ही कि जगत् सत्–असत् के परस्पर–विरोधी द्वंद्व से बनता है। तो स्पष्ट ही तर्कतः अनुपपन्न है या और जो तर्कतः अनुपन्न है, वह हो ही कैसे सकता है? यों उसे अनुपपन्न दिखाकर उसे 'न कुछ' यानिः स्वभाव या शून्य सिद्ध करने का रास्ता लिया ही जा सकता है। सदसद्विलक्षण की कोटि का आधार तर्क नहीं है। तर्कतः ऐसी कोटि नहीं बन सकती। यह कोटि जगत् को वास्तव न मानकर भी उसे प्रतीति में स्वीकार करने का एक विलक्षण विचार–मार्ग है : विचार जहां सत्–असत् के स्वतो विरोध से बनती आधारगत अनुपपत्ति से ऊपर उठकर एक नई कोटि बनाता है। अनुभव और वस्तु के विमर्श के लिये ऐसी कोटियां बनती ही हैं। सविचार बनती हैं। क्योंकि विचार तर्क के किसी न्याय या नियम से अवरुद्ध नहीं हो जाता, चाहे उस नियम को विचार की अनिवारणीय भित्ति ही क्यों न समझा जाये, और उसके उल्लंघन को चाहे विचार में स्वरूपतः असंभव ही क्यों न कह दिया जाये। विचार को हम विचार के भीतर बनते, विचार– स्वीकृत नियम से उत्क्रांत पाते हैं, तभी नियमों पर विचार कर पाते हैं।

फिर भी कहना न होगा कि स्वतो विरोध जैसे नियम के बिना विचार अकल्पनीय है। अचंभा नहीं कि नागार्जुन ने तार्किक अनुपपत्ति को आधार बनाते हुए जगत् को और हमारे जगद्गत 'होने' को व्यवहार को –निःस्वभाव या शून्य ठहराया है (गति का ही उदाहरण लीजिये : उनके लिये गति अनुपपन्न है, क्योंकि गत और अनागत काल, दोनों ही नहीं होते, और दोनों के बिना गति कैसी?)। जगत् उनके लिये प्रतीत्य–समुत्पन्न है : जहां जगत् की उत्पत्ति ऐसे घटकों की सापेक्षता से होती है जो गति की तरह 'नहीं होते' : अपना कोई स्वरूप–स्वभाव नहीं रखते। दूसरे शब्दों में 'जगत् कुछ नहीं है, शून्य है, क्योंकि अनुपपन्न है'। नागार्जुन तर्क को इस अंत तक ले जाते हैं कि वे भी अपनी तरह से तर्क मात्र से ऊपर उठ जाते हैं : वे अपने कहे को अपने तर्क को – भी शून्य ठहराते हैं! कहते हैं कि जैसे मिथ्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रजाल में बनी पुतली कुछ कहे, वैसे ही मैं बात कह रहा हूं। शंकर की और उनकी बात में अंतर यह है कि शंकर के लिये सत् ही है, जबकि नागार्जुन के लिये सब कुछ असत् है – शून्य है। बुद्ध भी और बुद्ध का निर्वाण भी। उनका विचार जो दिशा लेता है उसमें विषय का ही नहीं विषयी का भी निषेध उपपन्न होता है। विचार यहां विषय–विषयी भाव ही के निषेध से अनुप्राणित है।

विषय–विषयी भाव पर हम आगे फिर आयेंगे, पर बात को एक दूसरी दिशा देते हुए यहां यह सोचिये। हम विचार–करते जीव, मनुष्य, यह तो कह सकते हैं कि सत्–असत् के विरोधी द्वंद्व के बिना हमारा जगत्–बोध नहीं बनता, और क्योंकि हमारा जगत् हमारे जगत्– बोध से अलग नहीं है, तो कहा जा सकता है कि जगत्–बोध के मिट जाने पर 'हमारा' जगत् भी नहीं रहता।

पर यहां एक मूलगत प्रश्न सहज है : जगत् को क्या जगत्–बोध में अपचित किया जा सकता है? साफ ही, जगत्–बोध को जगत् का पर्याय नहीं कह सकते। जगत्–बोध के न होने से जगत् का न होना किसी भी रूप से सिद्ध नहीं होता। अनुपपन्न नहीं होता। जगत् हो, पर उसका बोध न हो, इसमें अनुपपत्ति क्या? बल्कि, जब हम 'जगत् क्या'? यह जिज्ञासा करते हैं तो संधान यही होता है कि जगत् अपने आप में क्या? चाहे हमारे बोध में जैसा भी उभरता हो। विज्ञान के संधान में यह अभिप्राय स्पष्ट ही है। इस संधान में उभरता यही है कि जगत् का स्वरूप, उसका सत् वह नहीं जो हमें दिखता है : जैसा कि हमारे इन्द्रिय–बोध में उभरता है (वर्ण, गंध, स्वाद, स्पर्श ...., इनको जगत्–निष्कासित करता हुआ ही विज्ञान आगे बढ़ता है!)। इन्द्रिय से ऊपर उठे बिना तो प्रत्यक्ष में भी हमारा जगत्–बोध नहीं बनता। हम कह ही आये हैं कि हमारा जगत् नाम–रूप होता है, प्रत्यक्ष के साथ अध्यवसाय की मांग करता है, जो भाषा–निष्ठ है। भाषा विचार में बसती है और उसके बिना हमारे जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती, (विज्ञान में भी नहीं), और तभी वह द्वंद्वों में बसा देखा जाता है, और तभी बौद्धों ने जगत् को विकल्प या भाषा निष्ठ, सामान्य, अनिन्द्रियगम्य निष्प्रत्यक्ष प्रत्ययों द्वारा निर्मित कहकर उसे (हमारी वासना–दिग्ध चेतना की) मिथ्या कल्पना कहा है। या यह भी कहा जा सकता है। और जैसा कि कांट ने कहा ही है – कि जगत् हमारी इन्द्रियों और भाषागत विचार–विकल्प (या कोटियों की) की सम्मिलित कल्पना है। पर ऐसा कहते हुए जगत् को मिथ्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझना– कहना आवश्यक नहीं है। क्योंकि यह देखिये कि अगर (हमारे) जगत् का स्वरूप ही ऐसा है कि हमें उसका बोध अनिवार्यतः द्वंद्वों की बुनावट के रूप में होता है तो इससे वह 'असत्' किस अर्थ में हो जाता है ? हम कह सकते हैं कि इससे उसके होने का अपना विशेषत्व ही उभरता है उसका होना आकाश कुसुम व अलीक नहीं हो जाता ! या भाषागत स्वतो–विरोध का विषय भी नहीं हो जाता। ऐसा स्वतो–विरोध स्ववचन–विरोध होता है जहां हम अपनी कही बात को कहने में ही नकार देते हैं, कहे को अनकहा कर देते हैं : किसी कुछ को है पर नहीं है 'कह देना ऐसा ही विरोध है। ऐसी बात को अगर लक्षणा या व्यंजना में न लिया जाये– क्योंकि तब बात अन्यथा–बोध्य हो जा सकती है – तो कुछ कहा ही नहीं गया होता (तभी इसे 'वदतोव्याघात' कहा भी गया है)। सत्–असत् का विरोध अगर ऐसा ही है तो स्पष्ट ही यहां सदसद्विलक्षण जैसी कोई तीसरी कोटि संभव नहीं होगी। 'है, नहीं है' को वचन के एक ही कोष्ठक में एक युग्म की तरह साथ रख दिया जाये तो वचन कुछ कहेगा ही नहीं, बेमानी होगा। विचार के लिये ऐसी निरी, कोरी अनुपपत्ति का तात्पर्य ही क्या? अनुपपत्ति सार्थक तब होती है जब हमारी जिज्ञासा की किसी सूझ, समझ या दृष्टि में जागती है 'जो कुछ होता है, किसी कारण से होता है या जगत् का कोई कारण नहीं या अतएव जगत् नहीं है या, 'ब्रह्म का ज्ञान होने पर जगत् नहीं रहता; अतएव जगत् नहीं है। पर स्पष्ट ही यह विचार की एक मुद्रा ही है। इससे जगत् असिद्ध नहीं हो जाता। अनुपपत्ति का बोध हमें अनुपत्ति के परे झाँकने की भी आँख देता है। और अनुपपत्ति के भीतर झाँकते निर्विचार को हम सहज ही भाँप भी लेते हैं : कारण को ही लें : कारण न होने पर भी जगत् हो तो अनुपपत्ति क्या करेगी – उभरेगा यही कि होने के लिये कारण की आवश्यकता नहीं ! विचार यहां दूसरी भी दिशायें लेता है। अपने युक्ति–बोध की ही सीमा या अक्षमता देखने की ओर भी झुकता है – यह सोचते हुए कि जगत् के होने के लिये कारण ही नहीं युक्ति भी अनावश्यक है। या विचार यहां युक्ति–विरोध के पीछे अविरोध को देखने के लिये मुड़ सकता है, यह बूझते हुए कि विचार जिसे विरोध समझ रहा है, वह विरोध का मिथ्या आभास भी हो सकता है : अन्यथा जगत् होता ही कैसे? आभास या प्रतीति में भी कैसे होता – विचार में ही कैसे होता? एक दूसरी दिशा लेते हुए जगत् को उसके सत् को– फिर हम अज्ञेय या स्वलक्षण या किसी चरम अर्थ में अनिर्धार्य भी कह सकते हैं। पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी युक्ति से जगत् का उसके सत् का–स्वरूपेण निषेध नहीं होता। यों भी विचार–चेतना युक्ति में बसती हुई भी युक्ति से ऊपर ही रहती है, जैसे भाषा–बोध व्याकरण से ऊपर रहता है। विचार दृष्टि साधता है या युक्ति दृष्टि–विशेष का अंग बनकर ही अपनी बात कहती है। अद्वैत की दृष्टि में सत् का ज्ञान एक विशेष प्रकार का ज्ञान है – वह सत् से भिन्न है और निर्विषय है (यों अपने आप में ही अनुपपन्न ठहरता दीख सकता है : विषय ही न हो तो ज्ञान क्या, किसका?)। ऐसा ज्ञान सत् से अभिन्न ही होगा, जिसके होने पर तद्भिन्न सब कुछ का, विषय–मात्र का, विषय–रूप जगत् का, स्वतः सर्वथा बाध हो जायेगा। ऐसे ज्ञान को ज्ञान कहना ज्ञान को सत् का ही पर्याय बना देता है। पर फिर मैं समझता हूं कि हम यह भी कह सकते हैं कि जगत् को फिर असत् की कोटि में क्यों रखा जाये? मिथ्या क्यों कहा जाये? जगत् फिर ब्रह्म–स्वरूप – सत्–स्वरूप – प्रकट होगा, क्योंकि ब्रह्म ही तो है। सर्वं खलुइदं ब्रह्म, इस महावाक्य में यही इंगित है। ध्यान रहे, अद्वय की दृष्टि में सत् का नहीं असत् का बाध होता है। ब्रह्म ही रह जाता है, और आत्म के रूप में हम रह जाते हैं, जिस रूप में हम, हमारा ब्रह्म–ज्ञान, सब ब्रह्म ही है। जिसे हम ज्ञान कहते हैं उसकी यहां बात ही नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें यह ऊह्य है कि हमारा विषयी–भाव विषय–भाव से अविनाभावेन युगनद्ध है। कोई भी ज्ञान या 'ज्ञान क्या' यह विचार–दृष्टि हमारे विषय–विषयी भाव को अनिराकरणीय भाव से ऊह्य रखती है, चाहे करने को विषय का या विषयी का या दोनों का निषेध ही क्यों न करे।

अद्वय–दृष्टि में विचार सत् के प्रति जिस विशेष दृष्टि को अभिव्यक्ति देना चाहता है वह दृष्टि सत् को विचार से परे लेकिन उपलब्धि की पकड़ के भीतर मानती है। विचार फिर भी ऐसी उपलब्धि को – जिसे हम अध्यात्म की कोटि में रखते हैं – पकड़ने को लालायित रहता है : स्वभाव से ही विचार अपने परे आँख उठाये रहता है ! तभी अद्वैत दर्शन रूप लेता है। पर अध्यात्म में बसी विचार–दृष्टि नागार्जुन की तरह सर्वं असत् की दृष्टि भी हो सकती है (दूसरे रूप भी लेती दिखती ही है, जैसे श्री अरविंद में)। नागार्जुन जैसी बौद्ध दृष्टि के विपरीत, अद्वय दृष्टि अपने मर्म में सत् परक है। यह दृष्टि अपने गूढ़तम अभिप्राय में हमारे स्वरूप–सत् का संधान–करती विचार–चेतना को संबोधित है। इंगित यह है कि हमारा वह रूप जहां हम अपने को विषय–रूप में पाते हैं, वह प्रातिभासिक है, मिथ्या है; अपने वास्तव होने में हम निर्विषय विषयी हैं। वही हमारा सत्–स्वरूप है। उस सत् के प्रकट होने पर मिथ्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिभास जो विषय–रूप से विषयी के केवली–भाव को आवृत करता 'दिखता' है (चाहे एक अनिवार्य से विषयी–सामान्य जगत् का रूप लेता हुआ ही क्यों न दिखता हो), वह स्वरूपेण बाधित हो जाता है। बिलकुल नहीं रहता। यह अपने तात्पर्य में सत् के अर्थ का ही संधान है। या कहिये कि इसका संबंध हमारे प्राप्त रूप के अनर्थ–भाव से है। यों भी हमारा सत्य–संधान चाहे जगत् के सत् का हो, या हमारे अपने सत् का, वह सदर्थ का ही संधान होता है। 'यह विषय है वस्तु नहीं है'। बुद्धि के सत्–विवेक का यह साधारण निर्णय सत् को अर्थ के रूप में देखता है; केवल, निर्वस्तु विषय–मात्र इसके लिये 'नहीं होने', या 'भासित होते हुए भी नहीं होने' की कोटि में ही आ सकता है।

पर अद्वैत के संदर्भ को फिर से लें। इस संदर्भ में 'सत्' के साथ 'अर्थ' को यहां पर्याय रूप में इसलिये भी ला रहा हूं कि इस दृष्टि में यह गहरा तात्पर्य भी व्यंजित है कि हमारे लिये सत् संधान की वस्तु है, हम उसे साधते हैं और स्पष्ट ही, संधेय संधान का अर्थ होता है; वस्तु का ज्ञान वस्त्वर्थ का ज्ञान होता है। हमारे अपने विषयी के स्वरूप–सत् का संधान ही नहीं, जगत् के सत् का संधान भी हमारी जिज्ञासा के अर्थ के रूप में ही उभरता है। अध्यात्म–दृष्टि में अपने स्वरूप को पाना ही हमारे अपने होने का ही नहीं, होने मात्र का अर्थ है; हम जगत् के बिना नहीं हैं, तो जगत् का सत् हमारे अपने सत् का अंग बनता है। अद्वैत दृष्टि में इसका अभिप्राय यह उभरता है कि अगर हम सत् को सचमुच पा लें तो जगत् और हमारा जगत् होना कुछ नहीं रह जाता है, तुच्छ हो जाता है, उसका कोई अर्थ नहीं रहता, वह नहीं–होना ही हो जाता है। अद्वैत का ही नहीं, अध्यात्म मात्र का संधान हमारे संपूर्ण निगूढतम होने का संधान होता है, और वहां ज्ञान में ही नहीं, अपने पूरे होने में ही सत् की उपलब्धि की साधना रूप लेती है।

ऐसी दृष्टि में यह भी ऊह्य है कि हमारा होना साध्य है। विचार उस साधना का अंग है। पर अध्यात्म को न भी लें तो भी साफ ही विचार के लिये सत् साध्य ही होता है। चाहे विचार सत् को जैसे भी समझे। इससे सत् की अर्थ–रूपता ही आगे आती है। विचार एक साधना है जो सत् साधती है। विचार चाहे सत् को स्वरूपेण सिद्ध मानकर ही क्यों न चले, उसके लिये वह साध्य ही रहता है, बल्कि कह सकते हैं कि नित्य–साध्य रहता है : विचार की भित्ति प्रश्न है जो उसे स्वरूपेण ही साध्य बनाये रखता है। जगत् क्या है?, और इससे भी बढ़कर, क्या है?, यह प्रश्न बना ही रहता है। पर जगत्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के सत् पर एक नये सिरे से फिर आइये। इस संदर्भ में हम विषय–विषयी की पदावली का प्रयोग करें तो बात एक नई भंगी, एक नया परिप्रेक्ष्य लेती हुई एक नये अर्थ या अर्थ–ध्वनि के साथ उभरती दिख सकती है।

विषय–विषयी भाव में विषय विषयी–सापेक्ष उभरता दिखता है। जगत् को विषय–रूपेण देखें तो यह भी देखना होगा कि विषयित्व के हम कई रूप पाते हैं। साधारणतया विषयित्व की बात करते हुए हम अपने (मनुष्य के) विषयी–भाव को ही ध्यान में रखते हैं। पर कहना न होगा, हमारा विषयित्व तो विषयित्व के अनेक रूपों में एक रूप है, चाहे वह विषयी–भाव के अन्य रूपों से कितना ही विलक्षण क्यों नहीं। विषयी–भाव के अन्य रूप विभिन्न पशुओं में पाये जाते हैं। उनकी इन्द्रियों की संख्या, सामर्थ्य, सभी हम से भिन्न हैं (वनस्पति को लें तो विषय–विषयी भाव की व्यापकता को इन्द्रियों से अधःस्थित भी देखा जा सकता है)। फिर पशुओं में भाषा का, और यों विचार–विकल्प का, अभाव है : उनका विषय नाम–रूप नहीं होता। सहज ही कल्पनीय है कि उनका जगत् या उनके जगत् कहना चाहिये, जिनमें रह कर वे अपना अपना व्यवहार करते हैं – हमसे भिन्न हैं। साफ ही, फिर उनका और हमारा विषय–बोध और यों जगत्–बोध, एक दूसरे से और हम से भिन्न है। पर हम सब प्रकट ही उसी एक जगत् में रहते हैं। यों, जगत्–बोध को जगत् का पर्याय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जगत्–बोध ही अगर जगत् है तो एक ही – या सब के लिये 'उसी' जगत् की बात नहीं हो सकती। पर 'उसी' जगत् की बात के बिना भी जगत् की बात नहीं हो सकती। भिन्न विषयी अपने को एक ही सर्वसामान्य जगत् में पाते हैं। इस एक जगत् परिसर की बात किये बिना जगत् की बात नहीं की जा सकती, चाहे विषयित्व के भेद के साथ जगत् के बोध में भेद होता हो। हममें – और जीवों में भी – विषयित्व–भेद के पीछे, उसकी भूमिका में – यह चेतना भित्ति–गत है कि 'हम सब उसी एक ही जगत् में हैं (चाहे उसे कैसे ही समझते हों)। तो, विषयी–सापेक्षता के पीछे अगर 'उसी' एक ही सामान्य जगत् का बोध है तो जगत् को विषयित्व–सापेक्ष विषय–मात्र कह देना ठीक नहीं ठहराया जा सकता। हमारा – जीवों का – परस्पर–व्यवहार इस बात का गंभीर साक्षी है कि विषयित्व–भेद के साथ जगत् के विषय–रूपेण भिन्न होते हुए भी विभिन्न विषयी एक ही जगत्गत हैं। भिन्न जीवों में – और आत्म चेतन रूप से हममें – सबके एक ही जगत् में रहने का अटल–अभ्रांत बोध भी है, जिसकें बिना हमारे साथ होने–रहने को, हमारे परस्पर–भावं को,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परस्पर–निर्भरता को, समझा ही नहीं जा सकता। यों तो विषयित्व–भेद के साथ जगत्–भेद की ही गिनती को हम बढ़ाना चाहें तो मनुष्य की (मनुष्य जाति की) बात न कर हम मनुष्य व्यक्ति पर भी उतर आ सकते हैं। हर व्यक्ति का अनुभव ही उसे कहता है कि उसका अपना नितांत निजी, अन्य–विविक्त, जगत् है जिसमें वह अपने को अनन्य ही नहीं, अन्य–व्यवच्छिन्न तक पाता है। पर तो भी पाता वह अपने को अन्यों में ही है – अन्यों के बिना अपने को अनन्य भी नहीं पा सकता। उसका जगत् उसके लिये भी – अन्य व्यक्तियों के बिना ही नहीं, अन्य जीवों के बिना भी अकल्पनीय है – चाहे कभी अन्यों का होना उसके लिये इतना नागवार होता हो कि अन्य के न होने की वह उत्कट प्रार्थना और विकट चेष्टा करता दिखता हो। पर अन्यों के ऐसे असह्यबोध में यह भी प्रखर लक्षित होता है कि हम अन्यों को विषयी के रूप में पाते हैं (विषय–रूप में ही नहीं)। इसे विषयित्व का ही एक लक्षण – और प्रमाण–भी समझना चाहिये कि विषयी अन्य विषयी को बड़े अपरोक्ष भाव से विषयी के रूप में पाता है; अन्य के विषय–रूप में उसका विषयित्व व्यंग्य ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रकट रहता है। अन्य विषयी विषयित्व का साक्षात् जीवंत संकेत रखता हुआ विषय होता है। बल्कि कह सकते हैं कि अन्य विषयी का साक्षात् निर्विषयी विषय के साक्षात् से कहीं गहरा होता है, क्योंकि अन्य विषयी में, चाहे मनुष्य हो या पशु, हम अपने को, अपने आत्म को, पाते हैं। तभी अन्य विषयियों में हम अपनी जैसी प्रवृत्ति के साधर्म्य का सीधा–अपरोक्ष बोध करते हैं – अन्य मनुष्यों में ही नहीं, अन्य जीवों में भी। तो, हमारा जगत् एक ऐसा विषयी–सामान्य जगत् है जिसमें हम अन्य विषयियों को विषयी के रूप में पाते हुए साथ एक ही जगत् में होते हैं, होने का अनुभव करते हैं। पशु भी हममें और अन्य पशुओं में विषयी–भाव का अपरोक्ष बोध करते दिखते हैं। यह जगत् सर्व–विषयी–सामान्य है : और इस बात का एक बड़ा प्रमाण यह है कि किसी जगत्गत वस्तु के होने का ही एक बड़ा प्रमाण हमारे लिये अन्य विषयियों का साक्ष्य होता है। तो उभरता यह है कि अगर विषयित्व के भेद के साथ जगत् के भेद की कल्पना या ऊह सहज है, तो साथ ही यह ऊह भी उतना ही सहज और अगाध है–हमारे जगत्–बोध में निविष्ट है–कि विषयित्व–भेद से बनते जगत्–भेद का आधार 'वही' एक सर्व–सामान्य जगत् है, जो सबके लिये अभिन्न है। विज्ञान, और जगत् को जानने के अन्य आयास, इसी सामान्य जगत् को आँकने–समझने की ओर प्रवृत्त होते हैं। विषयित्व–भेद के भीतर मनुष्य का विषयित्व विलक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है : सत् का संधान मनुष्य ही करता है। विज्ञान या जगत् और आत्म को समझने–आँकने का कोई भी आयास हो–मनुष्य में ही रूप लेता है। इसलिये कि मनुष्य के विषय–विषयी भाव में ही एक पशु–भिन्न उत्क्रांति आ समाई दिखती है। मनुष्य में चेतना विषयी को भी विषय बनाती एक नई ऊर्ध्व दिशा लेती है। चेतना मनुष्य में आत्म चेतन हो जाती है। उसमें प्रत्यङ्मुखता आ जाती है जो असीम सी उभरती है : वह अपने ही भीतर मुड़ती है, और अपने विषयी–भाव (और तद्गतविषय–भाव) को विषय बनाती हुई, अपने पीछे अनंत–अथाह रूप से हटती चली जा सकती है। इसे विषयी के भीतर ही एक द्वैधी–भाव का उजागर होना भी कह सकते हैं जो उसे अपने प्रति ही तटस्थ कर देता है। पशु की चेतना नितांत पराङ्मुख होती है, उसके विषयित्व में विषयी–विषयी का आत्म–तटस्थ द्वैत नहीं होता और इसलिये उसका विषयित्व पूरी तरह से विषय–उन्मुख और विषय– निमज्जित रहता है। आत्म चेतना के विषयी–विषयी या आत्म–आत्म द्वैत में विषयीरूप आत्म से और आत्म–विषय–रूप जगत् से जो ताटस्थ्य बनता है, उसी में 'जगत् क्या?' 'आत्मक्या?' ऐसी जिज्ञासा जागती है जो विषयी (आत्म) और विषय, इन दोनों के सत् के–स्वरूप–स्वभाव के–संधान का सूत्रधार होती है। आत्म चेतना में आत्म–आत्म के द्वंद्व के साथ चेतना के भीतर ही अर्थ का एक अपूर्व, उत्क्रांत आकाश उभरता है जिसमें नये विषय–लोकों के दिगन्त खुलते दिखते हैं। धर्म, दर्शन, गणित, विज्ञान, काव्य–साहित्य–कला ...., आत्म चेतना के बिना ये विषय–लोक अचिन्तनीय हैं। ये विषय–लोक इन्द्रियोर्ध्व हैं, पर इनमें भी हम विषय और वस्तु का विवेक करते हुए सत् का ही संधान करते हैं। ये विषय विचार–चेतना के साथ जागते हैं और भाषा या भाषावत् प्रतीक–व्यवस्था – में रूप लेते हैं। भाषा निष्ठ विचार–चेतना के उदय के साथ इन्द्रियगत विषय भी नाम–रूप ही नहीं हो जाते, वे विचार–व्यापार की आत्मचेतन प्रत्यङ्मुखता के भी अंग हो जाते हैं। तभी हम 'सत् क्या' यह विमर्श करते हैं, और विमर्श अपनी आत्मोन्मुखता में विमर्श पर विमर्श करती चलती तत्त्व–संधानी आत्मचेतना का ऊह होता है।

यह कहा जा सकता है कि जिसे हम जगत् कहते–समझते हैं, उसका होना और उसका बोध विषयी मात्र के लिये आधारगत रूप से इन्द्रिय–चेतना पर निर्भर करता है। इन्द्रिय के बिना अकल्पनीय है। इन्द्रिय–चेतना में निहित सामान्यता के बिना उस एक ही सर्व सामान्य जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती जिसकी हमने ऊपर चर्चा की। पर उस चर्चा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के निष्कर्ष को स्वीकारते हुए हम जगत् को सत् मान भी लें – यह मान लें कि विषय का विषय–सापेक्ष होना जगत् को विषय के रूप में विषयी की कल्पना और यों अपने आप में अवस्तु या असत् नहीं बना देता–तो भी विषय मात्र को सत् वस्तु तो नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही विषय और वस्तु में भेद होता है। जो प्रतीत होता है, वह नहीं भी हो सकता है। बल्कि विषय की प्रतीतिमात्रता का बोध विषय में वस्तु और अवस्तु के विवेक की और उसके आधार की (प्रमाण की) मांग को उदग्र कर देता है। प्रमाण की मांग आत्मचेतना और उसके साथ जागती विचार–चेतना को ऊह्य रखती है। तभी हम–मनुष्य–यह पाते हैं कि हमारे लिये चेतना के सदुन्मुख होने का स्वभाव ही यह है कि हम विषय के भीतर सत्–असत् का भेद करते हैं और इसका आधार ढूंढते हैं। सत् हमारे सत्–संधान का अर्थ होता है। पशु में विषय की सत् या सदर्थ गर्भता का बोध बड़ा अमोघ होता है। उस में तत्त्व–जिज्ञासा या प्रमाण–विचार नहीं होता, उसकी विषयोन्मुखता में सत्–बोध सहज अभ्रांत होता है – और उसकी जिजीविषा के अर्थ–संधान का अंग होता है। पक्षियों के प्रवास जैसे तथ्यों में उस बोध की व्यापकता और पैनी सूक्ष्मता देखी जा सकती है। यहां तक कह सकते हैं कि पशु में असत्–बोध का अभाव जैसा ही होता है। ऐसा नहीं कि पशु असत्–बोध से बिलकुल ही विचलित या व्याकुल नहीं होते – शीशे से टकराई–चकराई चिड़िया को देखिये – पर यह बोध उसके लिये एक क्षण भर की बौखलाहट भर होता है, जिसका उसके लिये कोई अर्थ नहीं उभरता। भ्रांति–बोध उसे' जगत् या विषय मात्र भ्रांति है' ऐसे विचार तक नहीं ले जाता। आत्मचेतना और उसके साथ जागते विचार – के अभाव में उसकी चकराहट अतिभंगुर होती है, जगत् के प्रति किसी तात्त्विक भ्रांति को जन्म नहीं देती। पशु की सर्वथा पराङ्मुख विषय–लिप्सा उसे विषय बोध से तटस्थ ही नहीं होने देती, और प्रत्यङ्मुख ताटस्थ्य के बिना सत्–असत् का विवेक–विचार संभव नहीं। यह ताटस्थ्य हममें सहज है। हमारी आत्म चेतना के स्वभाव में निहित है। और यह ताटस्थ्य सहज ही भाषागर्भ और भाषा–निहित–विचार गर्भ है। इस विचार–गर्भ ताटस्थ्य में जगत् से भी ताटस्थ्य निहित है – तभी हमें ऐसे तात्त्विक प्रश्न सताते हैं कि 'जगत् वस्तु है या अवस्तु' ?

हमारी आत्म चेतना में जागता आत्म ताटस्थ्य और उस में घर करते ऐसे प्रश्न हम में घोर संशय और भ्रांति ही नहीं, गहरी अस्थिरता और अनात्मभाव पैदा कर देते हैं। सत् हमारे लिये प्राप्त नहीं प्राप्तव्य हो जाता है। असत् के आवरण से ढक जाता है; हम सत् के संधानी साधक हो जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिपक्ष में यहां साधारण व्यवहार की दुहाई दी जा सकती है। कहा जा सकता है कि जीवन के आठ पहरी स्तर पर हमारी समझ भी – या हमारी जगदुन्मुखता कहिये – जिस होने को न होने के साथ मिलाकर अपना जगत् बनाती है, अपनी रहनी, अपना काम, अपने दैनंदिन उद्देश्य साधती है, वहां हमारी व्यवहार–बुद्धि भी 'अपने आप में असत्–अपोढसत् क्या', ऐसी किसी बेमतलब, निकम्मी उलझन की गाँठ में नहीं फँसती। हमें सत्–असत् की गडमड न किसी समस्या में डालती है, उससे कोई परेशानी होती है; न असत्य के निवारण और विशुद्ध सत् को पा लेने की कोई दीवानी ललक उभरती है। उलटे, हम यह बिना जाने भी जानते रहते हैं कि व्यवहार में तो सत् या असत् किसी एक का निवारण व्यवहार को ही असंभव बना देगा। और हम स्वभाव–स्वरूप से व्यवहारी जीव ही हैं।

यह ठीक है। पर हमें यहां यह भी न भूलना चाहिये कि हमारा होना ही 'होने' के–हमारी चेतना के होने के–कई स्तरों के मेल से बनता है, जो स्तर आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता के साथ सहज उभर आते हैं। जिसे हम व्यवहार कहते हैं; हमारी स्व–निष्ठ चाह के, एषणा के, अभिनिवेशों में पलता और उनको पालता हमारा दैनंदिन जीवन, वह केवल जिजीविषा के या साधारण धन–जन–अभिजन–बटोरती लोकैषणा के स्वार्थ–दिग्ध हानोपादान तक सीमित नहीं रहता। हममें श्रेयबोध का होना ही इस बात प्रकट लक्षण है। यह आत्मचेतना के साथ उभरता चेतना की उन्मुखता का ही एक उत्क्रांत आयाम है, जो हममें सहज है। हम एक ओर जहां यह प्रश्न करते हैं कि' है क्या'? वहीं, उसी चेतना के भीतर रहते हुए, यह भी पूछते हैं कि 'होना क्या चाहिये'। आत्म चेतना के साथ ही उदित होता यह प्रश्न जिज्ञासा एवं संधान का अनोखा दिगंत लिये आता है : चेतना यहां मानो अपने ही होने के स्वरूप पर प्रश्न खड़ा करती जाग उठती है। अपनी प्राप्त प्रवृत्तियों के होने को ही संशय के घेर में, 'नहीं होना चाहिये' के अनचाहे घोर में, डाल देती है। विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं; पर एक प्रवृत्ति के मूल तक उतरता संकेत देखिये जो प्राण मात्र में साधारण है : जीवो जीवस्य भोजनम् का नियम जीव–सहज है : पर उसके भीतर से ही हममें माहिंस्यात्सर्वभूतानि और आत्मवत्सर्वभूतेषु का विपरीत आदर्श जाग उठता है (चाहे अधिकतर आदर्श ही रह जाता हो)। स्पष्ट ही, श्रेय में जागता 'क्या होना चाहिये' का विकट, विचित्र प्रश्न विचार पर ही नहीं, हमारी समूची चेतना पर व्याप्त होता है। हमारे होने की जड़ में उतर कर एक सर्वतोमुख सदसत्–विवेक का प्रश्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बन कर हममें जाग उठता है, हमारे सर्वस्व को ग्रस लेता है (अध्यात्म की एषणा इसी का गहन लक्षण है)। बड़ी अनहोनी लेकर आता है यह प्रश्न, क्योंकि इस प्रश्न के साथ ही हम अपने को सिद्ध–प्रदत्त नहीं,स्वरूप से ही साध्य पाते हैं। हमारा श्रेय–बोध' हम क्या हैं', अपने स्वरूप की इस जिज्ञासा को हमारे प्राप्त स्वरूप तक सीमित नहीं रहने देता। हम अपने प्राप्त रूप को ही प्राप्यत्व की ओर प्रवण पाते हैं। यह प्रश्न मूलतः हमारे विषयी–भाव के प्रति उन्मुख होता है, क्योंकि हम स्वरूप से विषयी हैं (आत्मचेतना विषयित्व में उभरती है)। प्रश्न में यह संकेत उत्कट है : हम जो हैं, – जैसे विषयी हैं – वह हमारे होने का सत् नहीं है; हमारा सत्, हमारा वस्तु–स्वरूप, कुछ और है, जो सिद्ध प्रतीत भी होता हो तो है नहीं। और हम जब हम अपने आप को – अपने आत्म को ही–स्वरूपेण साध्य पाते हैं तो अपने व्यवहार को भी साध्य ही पाते हैं।

ऊपर की बात को फिर प्रतिपक्ष बनाते हुए कहा जा सकता है कि मनुष्य की साध्यता में कोई विशेष बात नहीं है, जिजीविषा के स्वरूप में ही साध्यता होती हैं, जो प्राणी मात्र में देखी जा सकती है। जड़ और प्राण के बीच ही एक भेद उभरता दिखता ही है जो प्राण मात्र के होने को ही स्वरूप से साध्य बना देता है। जड़ के संदर्भ में जीवन–मृत्यु का कोई अर्थ नहीं। विषय–विषयी का कोई अर्थ है। विषयी–भाव प्राणों के साथ जीव में रूप लेता है, और प्राण का होना जीवन के साथ मृत्यु का होना है जो जीवन को ही साध्य बना देता है। जीव में (और उससे पहले प्राण के पहले चरण, वनस्पति,में भी) जिजीविषा प्रवृत्ति के रूप में पिहित हो जाती है।' जिजीविषा' बसती ही साध्यता में है : प्राणी की जीवन–प्रवृत्ति का अभिनिवेश ही उसे मृत्यु से बचते हुए जीवन को अनुकूल बनाये रखने की ओर सचेष्ट रखता है। इसे प्राण–प्रवृत्ति में ही निहित साध्यता कहा जा सकता है। पर पशु में – और वनस्पति में भी – यह प्रवृत्ति एक नियत स्वभाव–स्वरूप की कारा में रहती है। उसकी जिजीविषा एक तज्जाति–गत व्यवहार में पलती है और वह उसी से प्रेरित हानोपादान करता प्रवृत्त रहता है। यह साध्यता जिजीविषा–सीमित साध्यता है। इसके बारे में यह कदापि नहीं कह सकते कि यह प्राणी के स्वरूप को ही साध्य बना देती है। प्राणी का स्वरूप यहां प्राणी–जाति–बद्ध होता है, और तज्जातिगत बना रहता है – उसकी चेतना इस प्रवृत्ति के परतंत्र रहती है। प्राणी में 'मैं क्या', 'जगत् क्या', 'मुझे होना क्या चाहिये', ऐसा कोई प्रश्न घर नहीं करता, न अपने प्राप्त–प्रातिभासिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और 'वास्तव' स्वरूप का उसमें कोई भेद और संधान जागता है। ऐसा विचित्र–अद्भुत संधान आत्मचेतना के साथ मनुष्य में आ कर ही उदित होता है – और वह अपने होने का ही अन्वेषी हो जाता है। उसका होना 'अपने होने का – अपने स्वरूप का ही – साध्य अर्थ' हो जाता है। पर फिर यह भी सोचिये। जड़, जीव (और तत्पूर्व आती वनस्पति) और फिर जगत् परिसर में एकदम से मनुष्य का प्राकट्य – जो जगत् को ही एक नया अर्थ, होने का ही एक नया आयाम दे देता है, यह क्या जगत् को ही स्वरूप से साध्य नहीं प्रकट करता? जगत् के स्वरूप को – उस के सत् को ही – 'अर्थमय' नहीं दिखा देता? क्योंकि साध्य तो अर्थ ही हो सकता है। जो निरर्थक है या अनर्थ है, उसके 'साध्य' होने की बात ही अर्थ नहीं रखती। हां, यह बात और है कि अर्थ के साथ अनर्थ उसके मर्म में ही एक अबूझ पहेली की तरह जुड़ा रहता है (हमने श्रेय–बोध के उदय की बात की – इसे श्रेय के होने का ही उदय भी कह सकते हैं, क्योंकि इसके पहले यह कोटि ही नहीं थी – पर श्रेय के साथ ही उसके प्रतीप अश्रेय का और अश्रेय–बोध का भी प्रबल प्राकट्य हो जाता है)। अब, सत् को साध्य कहने पर अगर 'सत्' और 'अर्थ' पर्याय उभरते हैं, तो मैं समझता हूं कि यह ही ठीक है, और आगे की चर्चा में बात पर और विमर्श करूंगा। पर जड़, वनस्पति पशु और मनुष्य इस क्रमोन्मेष में यह तो सहज देखा सकता है कि जगत् अपने स्वरूप में ही साध्यता समोये है। इस क्रम को यादृच्छिक कहें तो सत्य मात्र को यादृच्छिक कहना होगा। और फिर विचार मात्र – और विचार में उभरता यादृच्छिकतावाद भी यादृच्छिक और यों निरर्थक ही ठहरता दिखेगा।

तो, मनुष्य में साध्यता चेतना को ही साध्य बनाती, एक अपूर्व उत्क्रांत उन्मेष के साथ उभरती दिखती है। हमारा सत् का संधान चेतना की इसी आत्म–साध्यता का अंग होता है।

मनुष्य–भिन्न जीव की 'प्रवृत्ति' अनात्मचेतन होती हुई परतंत्र भी होती है; विषयी वहां सम्पूर्ण भाव से विषयमुख रहता है। विषय–निमज्जित, विषय–लिप्त, विषय–सर्वस्व रहता है। विषयी का अपना स्वरूप या आत्म नहीं–जैसा होता है। उसका व्यवहार जड़ की क्रिया की तरह बहुत कुछ यन्त्रवत् ही होता है प्रकृति–संचालित, इन्द्रिय–जगत्–निमग्न। मनुष्य में विषयी अपने प्रति जागरूक हो जाता है तो चेतना अपने विषय–विषयी भाव से तटस्थ ही नहीं होती, उसमें स्वातंत्र्य आ जाता है, जो स्वातंत्र्य उसे स्वसाध्य भी बना देता है। यही उसके श्रेय–बोध का आधार और लक्षण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह अपनी सिद्ध, प्राप्त प्रवृत्तियों पर प्रश्न उठाता है, क्योंकि उन्हें श्रेय–साध्य पाता है। उसकी प्रवृत्ति में 'क्रिया' से ऊपर 'कर्म' की कोटि आ जाती है, जो उसकी जिजीविषा में ही स्व–साध्यता के साथ आ समाती है। श्रेय–बोध ही नहीं, 'जगत् क्या है, विषय का सत् क्या है' यह तत्त्व–जिज्ञासा भी उसके आत्मचेतन स्वातंत्र्य का लक्षण है। इसे चेतना के स्वरूप में ही एक नये आयाम का, अर्थ–चेतना की एक अपूर्व कोटि का उदय कहना चाहिये, जिसे हम सत् के ही नये आयाम के रूप में देख सकते हैं।

तभी मनुष्य में चेतना के अर्थोन्मेष का एक क्रांत लक्षण हम विषय–संभार के ही नये प्रसार में पाते हैं। हम ऊपर देख आये हैं कि आत्म चेतन मनुष्य का, विषयी का विषय–लोक पशु की तरह इन्द्रिय–जगत् तक सीमित नहीं रहता। विषयों के नये क्षितिज उभर आते हैं, जो बुद्धि, या कहिये, विचार–चेतना को ऊह्य रखते हैं – यों स्वरूप से ही अर्थ–गर्भ होते हैं। इन्हें हम अर्थ के नये इन्द्रियोर्ध्व जगत् भी कह सकते हैं। इनमें भी हम विषय और वस्तु–सत् का विवेक करते हैं। यों सत् के क्षितिज को ही यहां विराट होता देख सकते हैं। सत् में यहां नई भूमा ही नहीं, एक नया ही अभूतपूर्व आयाम उभर आता है, जो इन्द्रियोर्ध्व होने के साथ ही अदेशकालनिष्ठ भी होता है (इस बात को भी स्पष्ट दिखा देता है कि देश काल का बोध इन्द्रियों को भित्ति बनाता है)। धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान जैसे विषय–लोकों में चेतना सत् का तो संधान करती पाई ही जाती है, पर साथ ही यहां सत् का संधान बड़े प्रकट रूप से अर्थ का–सदर्थ का–संधान होता है। इन लोकों के उदय के साथ हमारी जीजिविषा ही एक नया उत्क्रांत क्षितिज नहीं पा लेती, उसके सत्–बोध और सत्–संधान में ही एक अपूर्व आयाम आ समाता है, जो अब तक अचिन्तनीय था। इसका आधार चेतना के स्वातंत्र्यं में जागता श्रेय–बोध होता है। अब हम पशु की तरह प्राण–रक्षण के हानोपादान तक तो सीमित नहीं ही रहते, उलटे, अपने मनुष्य भाव में हम अपने पशुवत् स्व को ही पाते हैं, उसमें अपने आत्म को, अपने सत् को स्वरूप–च्युत, और यों 'असत्' पाते हैं – उसमें अर्थ की जगह अनर्थ उन्मीलित होती दिखती है। पशुवत् रागतः प्रवृत्त होने से पहले हम अपने आप से यह पूछने को प्रवण हो जाते हैं कि क्या यह उचित है? श्रेय है?, और इस प्रश्न को व्यापकतर बनाते हुए यह भी पूछ बैठते हैं, 'जो है क्या वह होना चाहिये?', क्या जगत् जैसा है, उसे वैसा होना चाहिये? यह अद्भुत प्रश्न हमें ही नहीं, हमारे सम्पूर्ण जगत् को 'है' की सिद्ध–प्रदत्त निश्चल स्तब्धता से निकालकर उसे स्वरूपेण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साध्य की कोटि में ला रखता है। सत् सदर्थ के रूप में आगे आता हुआ, एक संधान–व्यापार का रूप लेता दिखता है, जिसका कोई अंत नहीं दिखता। सृष्टि मात्र भाव की सीमा से निकलकर संभावना की कोटि में आ जाती है। भाव्य बन जाती है।

यहां यह आपत्ति सहज है कि ये कोरी कल्पना की बातें हैं, इन्हें छोड़िये। कल्पना के सौ खटराग हैं, पर वस्तु के स्वरूप से इसका कोई संबंध नहीं। वस्तु के ज्ञान को हम कल्पनापोढ ही रखना चाहते हैं, यह उसके सत् की साधना का अभिन्न अंग है – चाहे ऐसे जिज्ञासा–साध्य सत् को सदर्थ ही क्यों न कहिये। वस्तु का स्वरूप, या वस्तु–सत्, सिद्ध होता है। सिद्ध ही हो सकता है–साध्य नहीं; चाहे वह जिज्ञासा–साध्य ही सही; यह बात जगत् पर ही नहीं हमारे अपने वस्तु–स्वरूप पर भी पूरी उतरती है। साध्य वस्तु नहीं, वस्तु का ज्ञान होता है। सत् को ही साध्य कह देना उसके होने को अनहोना कर देना है, क्योंकि स्वरूप या सत् साध्य हो तो फिर होता ही कहां है? क्योंकि जो साध्य है उसे, साफ ही, है नहीं कहा जा सकता : वह क्या है? इसका तत्त्वतः कोई उत्तर ही नहीं दिया जा सकता, सत् का प्रश्न ही असत् में विलीन होता दिखता है। तभी अद्वैत में भी हमारे स्वरूप को–आत्म को–वस्तु कहते हुए, उसे सत् ही नहीं सिद्ध कहा गया है, साध्य नहीं। साध्य तो अज्ञानजन्य माया का अपसारण होता है जो वस्तु नहीं है।

ऐसे तर्क से हम खूब परिचित हैं, पर ऐसा तर्क हमें अपने आप को या जगत् को समझने में किसी गहराई में नहीं ले जा सकता। फिर हमें श्रेय को ही नहीं, आत्मचेतना में उभरते नये विषय–लोकों को भी सत् से सर्वथा अलग रखना होगा। पर यह न भूलना चाहिये कि सत् का संधान भी आत्मचेतना के साथ विचार के रूप में इन्हीं अर्थ–लोकों के साथ उभरता है। हां, यह विचार की एक अभ्रांत सी लगती सहज मुद्रा में कहा ही जा सकता है, कि' क्या है 'का प्रश्न सिद्ध–प्रदत्त सत् का प्रश्न है। इसका कोई भी उत्तर इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के साक्ष्य को आधार मान कर ही बन सकता है। श्रेय–बोध–जन्य 'क्या होना चाहिये' जैसे प्रश्न अर्थ के प्रश्न हैं, और अर्थ सत् से भिन्न है। दार्शनिक विचारकों में तारस्वर में कहा ही जाता रहा है कि सत् की जिज्ञासा का वास्तव, आधारगत विषय तो इन्द्रिय–उपलब्ध प्रत्यक्ष लोक है। दूसरे विषयों की बात अवांतर है। पर, स्पष्ट ही, आत्म चेतना के साथ उदित होते विज्ञान, धर्म, काव्य, दर्शन जैसे लोक भी विषय–लोक ही हैं। विचार स्वयं विषय है (स्वरूप से ही अपना विषय बना रहता है, बड़े अपरोक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव से बना रहता है), उसमें एक निहित विषय–विषयी भाव होता है जो उसकी अपार प्रत्यङ्मुखता में भी प्रकट रहता है। विचार अपना विषय बना रहता हुआ ही अन्य विषयों में वस्तु–अवस्तु विवेक करता है। इस संधान के भीतर से ही उसका प्रमाण–बोध उभरता है, रूप लेता है, अपने प्रमाणत्व का भी संधानी रहता है। यह भी सत् संधान ही है – क्योंकि प्रमाण के बिना सत् क्या? हम प्रत्यक्ष को प्रमाण का आधार रखते हैं, और इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहने के आदी हैं; पर स्पष्ट ही, अर्थ लोकों का बोध भी असाक्षात् नहीं होता। यहां सत्–असत् की कोटि को अमान्य कर देने की युक्ति क्या? एक प्रधान युक्ति तो विचार की इस रूढ़ि को आधार बनाती दिखती है कि' सत् तो सिद्ध ही हो सकता है, और सिद्धत्व का आधार इन्द्रिय गम्यता है या जिन्हें अर्थ–लोक कहा जा रहा है वे अनिन्द्रियगम्य हैं और साध्यता द्वारा परिभाषित हैं (तभी कविता, दर्शन, ये किये जाते हैं, निर्मितियां हैं), इन्हें सत् की कोटि में नहीं रखा जा सकता'। पर यह युक्ति स्पष्ट ही स्वाश्रयता दोष ग्रस्त है। अपने ही कंधे पर आरूढ होना चाहती है (और यह भी न भूलिये कि हम मनुष्य जिस जगत् में रहते हैं उसका लगभग पूरा आँगन ही हमारी निर्मिति है या उस कल्पना को, उन अर्थ–लोकों को ऊह्य रखता है जो आत्मचेतना के उन्मेष के साथ जागते हैं)। किसी रूढ़ युक्ति से हम बँध क्यों जायें? पर प्रतिपक्ष में एक दूसरी भी युक्ति दी जा सकती है; यह कहा जा सकता है कि हम विषय–लोकों के अनिन्द्रिय विस्तार को मान भी लें और इनमें विवेक और संधान की भूमिका को भी स्वीकार कर लें तो भी इन्हें सत् की कोटि में रखने से क्या हासिल? सत् की कोटि फिर बिलकुल ही अनेकान्त हो जायेगी। कविता का, धर्म का, दर्शन का .... सब का सत् अलग उभरता दिखता ही है, जबकि सत् के अनेक होने का कोई अर्थ नहीं बनता दिखता; फिर तो सत् की कोटि ही बिखरती–बिफरती, स्वविच्छिन्न दिखेगी! पर सत् की बात स्पष्ट ही सत् पर विचार की बात होती है। हम सत् को कोटि के रूप में देखते हुए उसके चित्र, विचार–तंत्र, गढ़ते हैं। विचार–तंत्रों में हम एक और अनेक का विचित्र भेदाभेद पाते हैं। कोई भी सत्–ग्राहक विचार–तंत्र एकत्व–संधानी होता है, एकत्व में पिरोया होता है, क्योंकि अवयवी का रूप लेता है, या कहिये कि अवयवित्व को आदर्श रखता है, उस ओर बढ़ता है; इसके बिना बन ही नहीं सकता। पर ऐसा तंत्र एक नहीं होता, न हो सकता है। विचार का क्षितिज या उसका अपना स्वरूप – उसका सदर्थ कहिये – उन्मेष पालता हुआ स्वभाव से संभावनामय होता है। परस्पर–विप्रतिपन्न तो होता और दिखता ही है; और इन विप्रत्तियों का व्यूह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छेदते हुए किसी एक 'अद्वय' प्रतिपादन पर पहुँचना संभव नहीं दीखता। फिर भी अगर हम सत् के विचार–तंत्रों का कोई महा अवयवी बनाने की ओर बढ़ें– जैसा कि होता ही रहा है–तो यहां भी अनेकांत ही उभरता पायेंगे; भिन्न ही नहीं, परस्पर– विप्रतिपन्न महा अवयवी आगे आयेंगे, या उनकी संभावना तत्त्वतः बनी रहेगी। दर्शन का इतिहास इसका साक्षी है ही। पर इतनी तो किसी भी तंत्र से हम अपेक्षा कर सकते हैं कि उसका चित्र सत् को ही सत् के किसी एक देश से न बाँध दे, उसके प्रसार को ही स्वेच्छया, या विचार के किसी फतवे से, सीमित न कर दे (जैसे किसी श्रुति से, या इन्द्रिय–प्रत्यक्ष से)। हमारा अवयवी–बोध, चाहे विचार में हो या अर्थ के किसी और क्षेत्र में, बसता वह संभावना और संधान दोनों के अनेकत्व में है। सत्य को हम इन्द्रिय–जगत् जैसे किसी एक देश में घेर कर रख दें तो भी अनेकांत बना रहेगा। इन्द्रिय–जगत् में भी सत् का अन्वेषण तो विचार ही करता है, और विचार स्वरूप से ही अर्थ–संधान के साथ अर्थ की संभावना का व्यापार है या स्वरूप से अनेकान्त है। विज्ञान ने यह धोखा खड़ा किया था कि इन्द्रिय–जगत् का एक अकेला सत्–सिद्धांत खड़ा किया जा सकता है, पर यह धोखा ही था, वहां भी अनेकांत की लीला अब प्रकटतर होती जा रही है। अनिन्द्रिय अर्थ लोक स्वभाव से अर्थोन्मेष के लोक हैं, अर्थ यहां प्रकट ही सिद्ध–प्रदत्त नहीं, साध्य होता है, और साध्यता संभावना के आनन्त्य में पलती है। यहां अनेकांत सहज ही नहीं, काम्य और साध्य है। और अर्थ–लोकों को हम अपने सत् के चित्र से देश निकाला न दे दें तो सत् के किसी भी चित्र से यह अपेक्षा सहज है कि वह सिद्ध तक सीमित न रहे, साध्य को भी अपनी ईक्षा में रखे।

सच तो यह है कि नवोन्मिषित विषय–लोक जगत् को भी उन्मेषमय दिखाते हैं। अर्थ–विस्तार की उभरती भूमा जगत् में ही उभरती है और उसे अपार संभावनामय दिखाती है। चेतनामय दिखाती है। उन्मेष चेतना और चेतना के स्वातंत्र्य में ही नहीं संभावनामय स्वातंत्र्य में ही निष्ठित हो सकता है। नहीं तो उन्मेष नहीं, रूढ़, नियत, कार्य–कारण–परतंत्र कुछ होगा। अर्थ–संधान करता चेतना का स्वातंत्र्य–व्यापार तन्निष्ठित जगत् की स्वसाध्यता की ओर संकेत करता हुआ उसकी संभावनामयता की ओर भी इंगित करता है। सत् को ही संभावनामय दिखाता है। और संभावना क्या होगी, यह विचार के परे है। पर विचार उसे ईक्षा में तो रख ही सकता है। यहां अपने उस गूढतम बोध को फिर लीजिये : जगत् नहीं भी हो सकता था; कुछ और हो सकता था। यह हमारी सदुन्मुखता में पैठा बोध है। विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे अछूता नहीं रह सकता। और विचार भी उभरा एक संभावना के रूप में ही है! और स्वयं भी संभावनामय होता है : इसके बिना उसका तर्क–विस्तार, उसका युक्तिमय ऊह ही नहीं बन सकता। विचार के लिये जगत् के सिद्ध–प्रदत्त होने के बोध के भीतर ही उसके संभाव्य असत्–भाव और अन्यथा–भाव का बोध आसीन रहता है।

इन्द्रिय–गम्य प्रत्यक्ष को भित्ति बनाते हुए जगत् और आत्म के स्वरूप को टोहने–जानने की चेष्टा सत् के प्रश्न जितनी ही पुरानी और प्रतिष्ठ है। यह ठीक है कि अपने अंतः का हमें बाह्येन्द्रिय–वत् प्रत्यक्ष नहीं हो पर उसका जो साक्षात् होता है उसको इन्द्रिय वत् साक्षात मानते हुए हम उसे भी बाह्यविषय–संभार के समकक्ष रख लेते हैं। और फिर हम इसे समूचे प्रातिभासिक विषय–संभार के बीच विषय–मात्र से वस्तु का विवेक करने के मार्ग निकालते हैं। प्रत्यक्ष को आधारगत प्रमाण रखते हुए, उसके आधार पर अनुमान और युक्ति–विमर्श द्वारा 'है' को 'नहीं है' से व्यावृत्त करते हैं, और विचार–विमर्श के रास्ते 'है' के ज्ञान–व्यूह गढ़ते हैं, 'क्या है' के विस्तृत, गुँथे–गठे अभ्युपगम, सिद्धांत बनाते है। विज्ञान में सत् के संधान का यह आदर्श प्रकट है। पर ऊह या विचार–कल्पना में निष्ठित होने के कारण ये ज्ञान–व्यूह भी संभावनामय ही होते हैं – स्वरूप से संभावनामय। विज्ञान आज ज्ञान–विचार का प्रसिद्ध–प्रतिष्ठित मार्ग है। सर्वमान्य है। मान्य ही नहीं, हमारी बुद्धि का बद्ध संस्कार है। जिस जग में हम हैं उस जगत् का और हमारा प्राप्त–उपलब्ध–प्रदत्त स्वरूप–यथातथ वस्तु–सत–क्या है, इसके विज्ञान–सिद्ध उत्तर को ही सत् का सिंहासन दिया जाता है। विज्ञान के संधान में जो प्रत्यक्ष–गर्भ ऊह की प्रक्रिया बनती है, उसे वस्तु–सत् की पकड़ का राजमार्ग समझा जाता है। आधारगत रूप में प्रक्रिया का सूत्रपात बाह्येन्द्रिय प्रदत्त भौतिक जगत् को ही विषय बनाकर होता है, पर इसे आगे बढ़ाते हुए 'वैज्ञानिक' अपने–आपको (व्यक्ति और जातिरूपेण मनुष्य को) भी इसका विषय बना सकते हैं – बनाते ही हैं। 'मैं क्या हूं', 'हम क्या हैं' या 'मनुष्य क्या है' – ये प्रश्न मानस–विज्ञान, समाज–विज्ञान और शरीर–विज्ञान .... संबंधी संधान के विषय हैं ही, और स्पष्ट ही ये भौतिक विज्ञान को अपनी संधान–पद्धति का प्रतिमान रखते हैं।

पर यहां यह नहीं भूलना चाहिये किये संधान जिस चेतना के लक्षण हैं, वह चेतना ही अपने को साध्य पाती है, और यह साध्यता उसकी जिज्ञासा, उसके यथातथ के तत्त्व–संधान में भी देखी जा सकती है। हमारी चेतना का यथातथ सत्–संधान किसी प्रदत्त, अभ्रांत, अनिराकरणीय सत् तक नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहुँचता, संधान–व्यापार ही बना रहता है। अथाह से अथाह होता दिखता है। साध्य–संधेय ही रहता है। प्रश्न प्रश्न बना रहता है .... चाहे यथातथ सत् के हम कितने ही व्यापक, कितने ही प्रत्यक्ष–प्रमाण – भित्तिक चित्र उभारें। ये चित्र स्वरूप से ही अधूरे ही नहीं, संभाव्य ही रहते हैं। प्रश्न ही प्रश्न नहीं बना रहता, सच पूछें तो 'प्रमाण क्या', यही प्रश्न बना रहता है। नागार्जुन ने दिखाया ही है कि प्रमाण स्वयं प्रमेय बनता हुआ हमारी प्रत्यङ्मुख प्राश्निक संधानी चेतना में कहीं स्थिति नहीं पाता। उसकी यही 'अनवस्थित स्थिति', या स्वरूपेण स्थिति–च्युति कहिये, हमें साध्य सत् का ही नहीं, यथातथ का भी संधानी ही बनाये रखती है। यों भी 'कुछ है जो अपने आप में है, हम से, हमारी पकड़ से – हमारे ग्राह्य–ग्राहक भाव से – स्वतंत्र है, यथातथ है' – यह सत् के संधान का 'आदर्श' ही होता है – और कहना न होगा कि आदर्श प्रश्न–घिरा ही नहीं होता, त्याज्य भी हो सकता है, न भी हो तो स्वभाव से साध्य तो होता ही है।

यहां प्रतिपक्ष की ओर से एक पैनी विप्रतिपत्ति खड़ी की जा सकती है। हमने अपनी बात के आरंभ में एक आधार–प्रतिज्ञा सामने रखी थी : 'चेतना स्वरूपेण सदुन्मुख होती है'। इस आधारगत प्रस्थापना को सामने रखें, तो उसके साक्ष्य की दुहाई देते हुए स्वीकार करना होगा कि चेतना (या कहिये चित्) अगर स्वरूपेण सदुन्मुख होता है तो सत् उसके सन्मुख प्राप्त–प्रस्तुत होना चाहिये। यों सिद्ध–प्रदत्त ही होना चाहिये। नहीं तो उसके प्रति उन्मुख होने का अर्थ ही क्या? हम जो जगत् को, वस्तु को, सिद्ध यथातथ मानते हुए उसका संधान करते हैं, वह इसी उन्मुखता का लक्षण है।

पर हम पाते हैं कि चेतना की सदुन्मुखता उसकी अर्थोन्मुखता है। तो सत् अगर अर्थ है, और अर्थ अगर साध्य है और चेतना के स्वातंत्र्य में उन्मेष के साथ जागता है तो फिर वह होने से पहले 'प्रस्तुत' कहीं नहीं होता। उसे साध्य ही नहीं, सृजन कहना उचित होगा। उसकी साध्यता को किसी सिद्ध–प्रदत्त जगत् या ऐसे जगत् की कार्य–कारण या प्रतीत्यसमुत्पाद जैसी स्थिर–स्तंभित निरुन्मेष गति में जड़–स्तब्ध नहीं कर दिया जा सकता। अर्थ को हम उन्मेष के रूप में – सृजन के रूप में सहज ही पाते हैं। अर्थ–लोकों में ही नहीं, जगत् में भी अर्थ के उन्मेष का व्यापार देख पाते हैं। कार्य–कारण की तरह सृजन भी एक व्यापार के रूप उभरता है – पर यह जड़ के प्रतीत्य–समुत्पन्न या कार्य–कारण व्यापार से सर्वथा भिन्न व्यापार है। यों तो जगत् को (जैसा कि 'जगत्' शब्द में ही निहित है) व्यापार मानने की ओर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारी बुद्धि, हमारी समझ, सहज ही प्रवण रहती है। विज्ञान का सिद्ध, यथातथ जगत् व्यापार–रूप ही है। व्यापार के रूप में ही सिद्ध है। पर यह व्यापार अचल–सा व्यापार है – एक स्तब्ध–स्थिर भाव है, जिसे अर्थ से रीता कर दिया गया है, जिसमें कोई भाव्यता नहीं। उसमें न चेतना है न चेतना की अर्थोन्मुखता – उसको कल्पित ही चेतना के अभाव के रूप में किया जाता है। भाव्यता का इस कल्पना में कोई स्थान नहीं। उसमें भाव्यता की बात तभी की जा सकती है जब वनस्पति, जीव, मनुष्य के क्रमोन्मेष को ध्यान में रखकर हम उसे अर्थ–गर्भ मानें, उसमें अर्थ की संभावना का बीज देखें। इसके बिना अर्थ को ही आगन्तुक, यादृच्छिक मानना होगा, जैसा कि विज्ञान के ऊह में निहित ही है, पर यह मानना विचार का एक हठ ही ठहरता है।

पर हम अगर साध्य हैं, हमारा भाव ही अगर भाव्य–गर्भ है, जैसा कि हम अपने को पाते हैं, तो जिस जगत् में हम हैं उसमें भाव्यता की कोई स्वतोविषम या स्वरूपेण विसंगत बात तो नहीं हो सकती। हम जगत् में ही नहीं हैं, जगत्–प्रसूत हैं – जगत् के बिना हमारे होने की कल्पना संभव नहीं। तो हमारी भाव्यता क्या जगत् की भाव्यता का लक्षण नहीं? इससे इनकार करें तो हमें अपने होने के गहनतम तत्त्व से इनकार करना पड़ेगा। अपने होने को किसी गहरे तात्त्विक या कहिये, 'यथातथ'–अर्थ में न–होना ही कहना पड़ेगा। और अन्ततः प्राण, जीव और मनुष्य में दिखते उद्भव–विकास को यादृच्छिक कह कर परमाणु–प्रपंच में ही अपचित कर देना होगा, जैसा कि विज्ञान–चिन्तक करते दिखते हैं। परमाणु और उसके बेढब से 'होने' को ही सत् मानना, हमें, हमारे विचार को, हमारे सत्–संधान को .... इस सब कुछ को परमाणु–विवर्त ठहराता है, और यों मिथ्या, कल्पना या माया की तरह प्रतीति या आभास–मात्र समझता हुआ अयथातथ, असत् की कोटि में डाल देता है। इसके पीछे एक मूल कारण यह है कि विज्ञान के लिये सत् का अर्थ से कोई संबंध नहीं। अर्थ है भी तो प्रतिभास है – कम–से–कम इतना तो विज्ञान–दृष्टि में ऊह्य है ही कि उसका सत् से और सत् के ज्ञान से कोई लेना–देना नहीं। जगत्–व्यापार को विज्ञान जड़ या भौतिक पदार्थ की कार्य–कारण गति के भीतर रखता हुआ उसे स्वभाव से ही 'उन्मेष' और 'सृजन' जैसी कोटियों से बाहर रखता है। पर यहां एक गहरे स्वतोविरोध के साथ अपने ही ऊह–व्यापार की उपेक्षा, अनदेखी, भी करता दिख सकता है। विज्ञान का ऊह विचार–मात्र की तरह एक कल्पना–व्यापार है, एक स्वतंत्रकल्पना–व्यापार जो कार्य–कारण भाव से ऊर्ध्व रहता है, तभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कार्य–कारण का विमर्श कर सकता है। जगत् को हम मूलतः भौतिक मानते हुए किसी सिद्ध जड़–आणविक कारण–परंपरा में बद्ध ही क्यों न ठहरायें, इस 'ठहराने' के लिये जो विमर्श अनिवार्य है, उसमें उतरने के लिये कल्पना का उन्मेष ही समर्थ होता है। सिद्ध यथातथ कार्य–कारण का साक्षात्कार कार्य–कारण को बाहर–से–देखती–जाँचती कल्पना के बिना बनता नहीं दीखता (हम पाते ही हैं कि विज्ञान का इतिहास विचार–कल्पना का भी इतिहास है)। और विचार और उसके ऊह को उसकी कल्पना को – कार्य–कारण में अपचित नहीं किया जा सकता। 'सब कुछ का कार्य–कारण में अपचय कर देना' – यह विचार–कल्पना का ही एक आदर्श है। बेढब सा आदर्श है, जो विचार को एक विशेष दिशा में ले जाता है। पर जो अपनी तरह से फलवत् भी हुआ ही है। और तभी हमारे निर्विचार संस्कार की रूढ़ि भी बन गया है।

विज्ञान के फल के संदर्भ में व्यवहार पर फिर आइयें। हम कह ही चुके हैं कि विज्ञान जैसे संधान व्यवहार के भीतर ही बनते हैं। अब, यहां विज्ञान के विचार में एक और विचित्र असमंजस देखिये। व्यवहार और व्यवहार–दृष्टि वस्तुओं को बौद्धों की तरह अवयवी मात्र को ही – आभास मानता हुआ भी विज्ञान इस मामले में अबौद्ध है कि वह व्यवहार को प्रमाण भी मानता है – इसके बिना बन ही नहीं सकता। उसका प्रयोग–तंत्र ही व्यवहारगत होता है, और हमारी व्यवहारगत वस्तु–चेतना और अवयवी–बोध को ऊह्य रखता है। एक मोटी सी बात यही देखें। विज्ञान के लिये व्यवहारगत मशीन जैसी वस्तुएं ही नहीं, प्रकाश भी आभास है, दिखता है पर है नहीं, होने को केवल परमाणु या कहें ऊर्जा जाल का एक अद्‌भुत निर्वस्तु समाहार है – प्रपंच है; पर प्रयोग के लिये मशीन और प्रकाश का 'होना' अनिवार्य है, नहीं तो प्रयोग नहीं होगा और परमाणु का स्वरूप भी फिर कहां होगा! अंधकार में ही रहेगा। एक दूसरे बड़े' व्यवहारी' अर्थ में भी विज्ञान व्यवहार पर टिका हुआ है। उसके विपुल–वित्त–साध्य संधान को व्यवहार और व्यवहार के साध्यमर्म में जागती सदुन्मुखता ही आश्रय देती है। व्यवहार जगत् को अर्थ–रूप ही देखता है। लाभ, सुविधा, शक्ति .... के अर्थ में ही नहीं, श्रेय–बोध के ऊर्ध्वतर अर्थ में भी (तभी उसमें सर्वक्षेम और सर्वहित का आदर्श जागता है); और साथ ही सदुन्मुख जिज्ञासा के अर्थ में भी। विज्ञान और लोकैषणा का कितना ही घनिष्ट क्यों न हो, उसमें संधानी सदुन्मुखता भी प्रकट ही है। पर यहां यह भी ऊह्य है कि विज्ञान को जिस प्रसृत स्तर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर व्यवहार आश्रय देता है, उसमें व्यवहार की साध्यता का भी इंगित है। विज्ञान की साधना संस्कृति का अंग है जो मनुष्य–व्यवहार की प्रगति–भिन्न साध्यता का लक्षण और प्रतीक है। संस्कृति के आत्मचेतन, कारक–भाव में अनपचित स्वातंत्र्य के बिना विज्ञान जैसे संधान अकल्पनीय हैं। संस्कृति–चेतना अपने को साधती–बनाती आत्मोन्मुख चेतना है जहां मनुष्य और मनुष्य होना– मनुष्य होने का अर्थ, या मनुष्य का सत् कहिये–साध्यता की धरती पर बसा दिखता है। संस्कृति अर्थ के आदर्श पालती है, मनुष्य के अर्थ–संधानी स्वभाव के आधार पर बनती है। सिद्ध–यथातथ 'क्या है' का संधान–विज्ञान में हो (या धर्म या दर्शन में) – यह आत्मचेतन चेतना के बृहत्तर अर्थ–विज्ञान के ही एक आयाम के रूप में उभरता है। पर जगत् को भाव्य कहने पर – जैसा कि हम कह रहे हैं–वह असत्–गर्भ हो जाता भी दिखता ही है। भाव्य अर्थ ही हो सकता है। ऐसा अर्थ जो है नहीं, जो प्राप्त नहीं प्राप्य है, यों स्वरूपेण असिद्ध है, और अंसिद्ध है तो असत् है। सत् अगर अर्थ है तो वह साध्य ही नहीं हो जाता, उसके स्वभाव में ही स्वातंत्र्य में बसते उन्मेष – सृजन की प्रवणता भी स्वीकार्य हो जाती है। पर फिर वह असत्–गर्भ भी हो जाता दिखता है।

लेकिन फिर असत् का अर्थ भी एक नया परिप्रेक्ष्य लेला उभरता दिखता है (जैसा ऊपर व्यंजित भी है)। सृजन होता ही असत्–गर्भ है। जो है उसके भीतर उसे किसी भी अनुमान जैसे विमर्श से किसी प्रदत्त या नियत पर अव्यक्त संभावना के रूप में भी नहीं भाँपा जा सकता। वह सचमुच कहीं नहीं होता, चमत्कार की तरह प्रकट होता है। यों सत् से, जो है, उससे नहीं, असत् से, जो नहीं है, उससे प्रकट होता है। फिर, यह भी देखिये कि उसी की ओर बढाता भी रहता है। तो, बात यहां काल की नहीं है, हो भी नहीं सकती, क्योंकि असत् काल में नहीं हो सकता, हो तो सत् ही होगा। सृजन–गर्भ असत् स्वरूप से अव्याकृत होता है। कह सकते हैं कि सन्मात्र भी अव्याकृत ही होता है। जैसा हम विज्ञान के सृष्टि–पूर्व के उस सत् में पाते हैं जिसके विस्फोट से जगत् व्याकृत रूप में उद्भूत होता है। पर ऐसा अव्याकृत अव्याकृत होता हुआ भी प्रदत्त व्याकृत का बीज–रूप जैसा होता है। तभी वह अनुमिति–लब्ध भी होता है। आज के – अतिभौतिकता को चाहे–अनचाहे स्वीकारते –विज्ञान में जिस जगत्–बाहर आदि विस्फोट को जगत् के प्राप्त स्वरूप और गति से अनुमित किया जाता है, वह जगत् के अव्याकृत सत् के रूप में कल्पित है : वह अदेशकाल में 'घटता' हुआ इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राप्त–प्रत्यक्ष व्याकृत जगत्, इसके देश–काल, पदार्थ–जाल और उसकी योजना को उद्भूत इस कारण करता है क्योंकि इस व्याकृत को अपने अव्याकृत के भीतर समोये रखता है। उसे सचमुच अव्याकृत नहीं कह सकते। वह व्याकृत–गर्भ अव्याकृत है। उसे सचमुच अव्याकृत मानने पर वह संभावनामय असत् ही होता दिखेगा। विज्ञान–कल्पित (या 'अनुमित') अव्याकृत को संभावित नहीं भावित ही मानना होगा : उसमें नहीं होने की या कुछ और होने की संभावना की बात अर्थ रखती नहीं दिखती। ऐसे 'भावित' अव्याकृत को 'असत्' का नाम तो दिया जा सकता है, पर वह निर्धारित असत् होगा, अर्थोन्मेष–सृजन गर्भ असत् नहीं। यहां सांख्य को लीजिये। विज्ञान के अव्याकृत सत् की तरह सांख्य–कल्पित त्रिगुण–गर्भ अव्यक्त – जिसे अव्याकृत सत् कह सकते हैं – वह अपने स्वरूप में निर्धारित होता है। पुराणों के सृष्टिगर्भ विलय के अव्यक्त की तरह ही 'नियत' होता है। वह अप्रकट हुए पुराने को ही प्रकट करता है। उसे सृजन–गर्भ असत् नहीं कह सकते। सृजन–संभावना–गर्भ असत् सर्वथा अनिर्धारित ही हो सकता है। (इतना तो फिर बिना कहे ही उभरता है कि असत्–गर्भ सृजन के संदर्भ में असत् केवल भाव–लक्षी अभाव नहीं होता : यह भावाभाव के द्वंद्व में बैठा वह अभाव नहीं होता जो कि हमारे अनुभव और व्यवहार के आधार में ही पिरोया दिखता है)। असत् यहां स्वरूपेण, सत्–निरपेक्ष असत् है। सचमुच न इति, कुछ नहीं।

अद्वैत के विचार को इस संदर्भ में फिर से लें। इससे' सृजन' के अर्थ–स्वरूप को समझने में सहारा मिल सकता है : असत् को जिस अर्थ में हम ले रहे हैं, उसकी एक विपरीत सी दिशा से कुछ पकड़ बन सकती है। अद्वैत का असत् ऊपर के अर्थमय सृजन–गर्भ असत् से सर्वथा प्रतीप उभरता है। पर देखने की बात यह है कि संदर्भ यहां भी अर्थ का ही है। अद्वैत के लिये असत् का अपने आप में महत्त्व – या कहिये 'अर्थ' –कम नहीं। हमारा जगत्, हमारा व्यवहार, हमारा अर्थ–संधान, जो कुछ हम हैं और हमारे सन्मुख है, वह सत् की दृष्टि से बाधित है। यों वास्तव में नहीं है, असत् है, चाहे प्रतिभासित होता हो। इस प्रतिभास के कारण उसे सदसद्विलक्षण कहते हुए किसी तरह का सत् समझ भी लिया जाये तो भी वह त्रिकाल बाधित है तो असत् ही है। पर वह निवारणीय असत् है। यों उस असत् को भी हम साध्यता की कोटि में पाते हैं – हम पाते हैं कि उसका निवारण हमारा परात्पर साध्य है। शंकर के अद्वैत विचार को असत्–निवारण की साध्यता से प्रेरित कहा जाये तो भूल नहीं होगी। हम अगर पूछें कि अद्वैत के लिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत् का या विषय मात्र का' होना' क्या – या यों कहें कि उसके होने का अर्थ क्या –तो निवारणीयता ही उस होने के अर्थ और स्वरूप के रूप में उभरती दिखती है। अद्वैत में' होना' 'बंधन' है। वह 'अज्ञान' या अविद्या का होना है, उसका निवारण हमारा साध्य है, हमारा अर्थ है (परमपुरुषार्थ है)। वह है, अनर्थ के रूप में है, तभी निवारणीय है। अद्वैत के लिये विषय मात्र इस अगाध, अनिवार्य अर्थ में है कि वह हमें सत् से प्रवासी बना देता है, यों वह सत् को साध्य भी बना देता है। कहना न होगा कि यों रक्खी गई बात का अद्वैत किसी भी रूप में समर्थन नहीं करेगा, पर यहां हमारी ऊपर–कही बात का समर्थन हमें मिल सकता है : हम देख सकते हैं कि मनुष्य का साध्य होना और सत् का संधेय होना, ये अद्वैत विचार की प्रेरणा के मूल में हैं। अद्वैत विचार में विषय का और जगत् का 'क्या' – उसका होना, उसका स्वरूप – एक विचित्र सा इन्द्रजाल ही ठहरता है। पर यह भी स्पष्ट है कि जगत् या विषय मात्र के 'होने' का प्रश्न उस विचार में अर्थ का प्रश्न है। अद्वैत की जिज्ञासा के मर्म में प्रश्न यह उभरता है कि विषय क्यों है, उसके होने का हमारे लिये अर्थ क्या? और इस दृष्टि में उसका होना हमारे लिये परम अनर्थ है। तभी इस होने को प्रतीति मात्र या प्रतिभास कहा है, चाहे यह प्रतिभास सर्वसामान्य –. सर्वविषयी–सामान्य–मिथ्या – माया – के रूप में ही क्यों न हो, और इस रूप में चाहे उसकी अपनी एक सुगठित योजना ही क्यों न उभरती हो। स्वरूप से वह असत् है, क्योंकि अनर्थ है : साध्य सदर्थ की दृष्टि से वह नहीं है 'न इति' ही कहला सकता है। हम उसे देखते हैं, उसे भोगते हैं, वह हमारे अनुभव के मूल में है, इसलिये वह अलीक आकाश–कुसुम जैसा स्वरूपेण असंभव–तो नहीं है (वह अलीक होता तो सचमुच ही नहीं होता, अनर्थ भी नहीं होता), पर वह है तो परम हेय रूप में है – या कहिये कि सत् की बाधा के रूप में है।

अद्वैत की तरह जगत् को असत् और यों अनर्थ मानने के विपरीत ऊपर आई हमारी दृष्टि में हमने जगत् को अर्थमय, अर्थ की स्वतंत्र साधना में संभावनामय पाया है। तो फिर अद्वैत की दृष्टि के विपरीत यह भी प्रतिपन्न हो जाता है कि विशुद्ध विषयी के साथ जुड़ा विषय–भाव अनर्थ की नहीं अर्थ की जड़ है – विषयी सत् है तो विषय उसका अर्थ है, वह भी स्वरूपेण सत् है। चित् अपने ही इस सत् की ओर उन्मुख होता है। विषयी–विषय भाव अर्थ के प्राकट्य और उन्मेष का आधार है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयी–विषय भाव पर अब इस परिप्रेक्ष्य से विचार करें। विषय का निराकरण एकाधिक अध्यात्म–प्राण दर्शनों में अपनी अपनी तरह से प्रतिपादित है, हालांकि विषय के आभास से इनकार नहीं किया जाता। आभास तो अनिवार्य सा जान पड़ता है। पर विषय आभास मात्र है तो अवस्तु है, प्रतीति है, सत् नहीं हो सकता। पर यह भी देखिये कि अवस्तु के सत् पर संशय अध्यात्म में ही नहीं, विचार मात्र में आम सी बात है। बल्कि, कह सकते हैं कि विचार में वस्तु – या सत् – की खोज का आरंभ ही प्रतीत विषय मात्र के सचमुच होने के – अपने आप में स्वतंत्र वस्तु होने के–संशय से होता है। 'जो दिख रहा है, वह है नहीं, भ्रांत है',यह संशय सहज है। पर विचार इस निष्कर्ष पर भी सहज पहुँचता है कि जिसे आभास हो रहा है उस विषयी के होने पर संशय नहीं किया जा सकता, उसके बिना आभास भी नहीं होगा। तर्क दिया ही गया है : संशय विषयी करता है, विषयी न हो तो संशय अकल्पनीय है, उलटे संशय का होना ही संशय–करते विषयी के होने को निःसंशय सिद्ध करता है।

पर यहां एक और बात पर ध्यान दें जो विषयी की आत्म–निःसंशयता में एक विचित्र विरोध भरा दोहरापन उभारती दिख सकती है। विषयी के – या अपने अनुभव के 'मैं' के होने का प्रमाण भी 'मैं' का ही प्रत्यक्–रूप होता है। अब, इन्द्रिय–प्रत्यक्ष और उसकी सर्वसामान्यता की दृष्टि से यह बड़ा अनहोना सा प्रमाण है – इसमें इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की अन्य–विषयी–सामान्यता नहीं होती। पर फिर भी यह इन्द्रिय–प्रत्यक्ष से कहीं अधिक अभ्रांत होता है। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष–दृष्ट बाह्य विषय पर हम सहज संशय कर सकते हैं, अपने 'मैं' पर – 'अहं' पर–नहीं : क्योंकि संशय ही वही करता है। पर एक विचित्र बात यहां और है। 'मैं' अंतः–दृष्ट होता है। उसके होने पर हम संदेह नहीं कर सकते पर वह क्या है, उसकी पहचान क्या, यह संदेह का विषय बना रहता है। यहां बाह्य–वस्तु से तुलना कीजिये। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की सर्वसामान्यता के कारण और भाषा के इस सामान्यता में निष्ठ होने कारण, बाह्य (नामरूप) विषय की पहचान हमारे लिये सार्वभौमत्व लिये होती है। जबकि 'मैं' की ही नहीं, मैं–दृष्ट अंतः–वृत्तियों की पहचान कहीं अधिक उलझन में डालती है। और यह तब जबकि बाह्य–दृष्ट वस्तु–जगत् में सामान्यता का बोध हमारे आत्मचेतन अंतः–बोध में निहित द्रष्टा की सामान्यता के बिना संभव नहीं। जिसे हम पहचान कहते हैं वह अध्यवसाय को ऊह्य रखती है। अध्यवसाय पशु भी करते हैं, नहीं तो उनका व्यवहार अकल्पनीय है। पर हमारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्यवसाय जिस आत्मचेतना–सहोदर भाषा–चेतना को ऊह्य रखता है वह अध्यवसाय ही नहीं,संशय, निर्णय, उसके लिये प्रमाण की खोज .... विषय और वस्तु के बीच विवेक–विचार ...., आत्मचेतना के साथ जागते प्रत्यक्–भाव का यह सारा व्यापार ऊह्य रखती है। इस व्यापार के भीतर ही हमारा विषयी अपना ही विषय भी होता है। आत्मचेतना बनती ही विषयी के ऐसे द्वैध में है जहां विषयी अपने से अलग होकर अपने को विषय बनाता है।

जो आत्मचेतन विषयी संशय करता है वह भी विषय–रूप ही उभरता है : 'मैं संशय कर रहा हूं', इस अनुभव में संशय–करता विषयी अपने ही विषय के रूप लक्षित ही है। यही आत्मचेतना का रूप है। विषयी यों आत्मद्वैध के साथ आत्मचेतन न हो तो संशय, वस्तु–अवस्तु–विवेक, प्रमाण–विचार,यह सब नहीं करेगा। पर यह अपने–को–विषय–करता विषयी ही अपने विषयित्व–निष्ठ वृत्तियों की पहचान में ही भ्रांत होता दिखता है, वृत्तियों के परस्पर–संबंधों के सम्यक् ग्रहण की तो फिर बात ही क्या! अपने विषयित्व के ग्रहण का संधान वह कई तरह से करता है। उसे बाह्य–विषयवत् देखते हुए, जैसे मनोविज्ञान में, या अध्यात्म–मार्गों में : जिसका साक्ष्य हम योगसूत्र और अभिधम्म जैसे निरूपण में पाते हैं। पर कला, काव्य, संगीत, साहित्य भी विषयी के अपने को जानने–पहचानने के मार्ग के रूप में देखे जा सकते हैं। यहां आत्मानुभूत द्रष्टा विषयी अपने विषयित्व के अनुभव में रहता हुआ भी विषयित्व को जानने–परखने की ओर बढ़ता है।

पर जो भी हो, संशय–करता आत्मचेतन विषयी अपने को विषय के रूप पाता हुआ, अपने उस विषय–संभार पर संशय करता है जिसे वह अपने से बाह्य (जगत्–रूप) देखता–पाता है और अपने को उससे भिन्न–विश्लिष्ट, उसका द्रष्टा–भोक्ता पाता है। पर अपना विषय होता हुआ भी वह अपने पर संशय नहीं करता। हालांकि जिस आप को वह निःसंशय पाता है, वह भी उसके लिये विषय रूपेण ही भासित होता है। उसे विषय–रूप विषयी कह सकते हैं। अपने को विषय–रूप पाता यह विषयी विषय–रूप में अपने को देखता ही नहीं, जाँचता–परखता भी है। अपने संशय के खरेपन पर भी संशय कर सकता है : 'क्या मेरा संशय सच्चा है या ओढ़ा हुआ ढकोसला है : आहार्य है?' अपने संशय पर ही नहीं, अपने होने पर भी खरेपन के प्रश्न उठा सकता है, उठाता ही है 'माना मैं हूं, मैं अपने होने पर संशय नहीं कर सकता, पर मुझे जैसा और जो होना चाहिये क्या मैं वैसा और वह हूं?, क्या मैं अपने सच्चे आत्म–स्वरूप में स्थित हूं ?'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर यहां यह बात भी आगे आती दिखती है कि विषयी 'मैं' को अपने ही 'मैं' का – अहं का – 'होना' अपने आप में उपलब्ध नहीं होता, तद्गत विषय के माध्यम से होता है। अपने संशय की – या इच्छा की – पहचान हम इच्छा या संशय के विषय से – या तद्विषयोन्मुखता से – करते हैं। ये निर्विषय हो तो हम इन्हें 'इच्छा' या 'संशय' भी कह पायेंगे क्या? यों हम अपने विषयी को एक दोहरे भाव से विषय–विषयी के रूप में पाते हैं। उसे विषय–रूप ही नहीं, विषय–लिप्त पाते हैं। तभी हम संशय से कहीं अधिक अपनी चाह में अपने को पाते हैं, जो स्वभाव से विषयोन्मुख ही नहीं, विषय के लिये व्याकुल होती है। और हमारे चाह–में–बसे अहं की यह विषयोन्मुखता बिखरती, भटकती भी रहती है। तभी हमारी चाह क्या है, हम अक्सर यही नहीं पकड़ पाते। फिर विषयी के द्वैधीभाव में जागती प्रत्यङ्मुख तटस्थता के कारण हम चाह में होते हुए भी उससे बाहर होना चाहते रहते हैं। विषयी का यह द्वैध हमारे 'मैं' के ही द्वैध के रूप में आगे आता है। यह ठीक है कि 'मै हूं', यह संशय का विषय नहीं होता, पर इस सविषय मैं का विषय क्या है, यह संशय का विषय हो सकता है। 'चाह क्या है 'इसकी सही पहचान बने या नहीं, हमारे आत्मताटस्थ्य में घर करता हमारा श्रेयबोध हमें सताता रहता है कि चेतना की यह चाह–बसी स्थिति होनी भी चाहिये क्या? क्या यह सचमुच मैं हूं? यह मेरा आत्म नहीं हो सकता! पर मेरा आत्म क्या है, यह प्रश्न बना रहता है। हमारे लिये इससे गहरा और चुटीला प्रश्न नहीं कि हमारा अपना वस्तु–स्वरूप क्या है?

अद्वय में विषय–रूप विषयी को (तद्गत विषय सहित) अवस्तु कहा गया है और उसका निषेध किया गया है। बल्कि, कहा जा सकता है कि अद्वय का विषय–मात्र–निषेध अपने मर्म में विषय–रूप विषयी का ही निषेध है। अद्वय का निर्विषय विषयी ऐसा विषयी है जो किसी गभीर प्रत्यक्भाव की उपलब्धि के साथ अपने विषय भाव के होने को ही अश्रेय और यो असत् पाता हुआ उसे नितांत निवारणीय–निराकरणीय पाता है। पर हमारे अनुभव का जो आत्मचेतन विषय–रूप विषयी अपने होने को अनिषेध्य पाता हुआ बाह्य विषयों के होने पर अनायास संशय करता है, उसका अपने को निवारणीय भी पाना आवश्यक नहीं। वह साधारण व्यावहारिक, व्यवहार–में–रमी आत्मचेतना का विषय–रूप विषयी होता है। यही हमारे सहज अनुभव का आत्मचेतन विषयी है जो अपने विषयित्व को विषयी–विषय रूप में पाता हुआ अपने से इतर (इन्द्रियगत या अर्थ–लोकों के अनिन्द्रियगत)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष–दृष्ट–विषयों को विषय रूप में पाता–देखता है, उनमें सत्–असत् का विवेक करता है। यही विचार करता है और व्यवहार, धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य, साहित्य, संगीत में अर्थ–संधान करता है। विषयी अगर स्वरूपतः निर्विषय हो तो ऐसा विषय–विषयित्व असत् सिद्ध हो जाता है। पर हमारे अनुभव का यह स्व–को–ही–विषय–करता आत्मचेतन विषयी अगर विषयत्व–स्पर्श–दुष्ट होने के कारण असत् है तो फिर विषयी की चर्चा ही नहीं हो सकती– विषयी–अद्वैत–का–प्रतिपादन–करता, उसकी स्थापना करता विषयी ऐसा 'असत्' विषय–रूप विषयी ही होता है। पर अद्वैत दर्शन, या कोई भी जागरूक दर्शन – विचार–करते इस अनुभूत विषयी से इनकार नहीं कर सकता। हम पाते हैं कि वह भी इसी विषयी को संशय से परे रखता है – जैसा कि शंकर ने भी किया ही है। पर इससे भी बढ़कर यह देखिये कि ऐसे आत्मचेतन विषयी–विषय को स्वीकार करते हुए ही शंकर ने अपने भाष्य की भूमिका में स्फुट कहा है कि यह आत्मचेतन आत्मा–प्रत्यगात्मा – अपना ही साक्षात्कार करता हुआ नितान्तेन अविषय नहीं होता (न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः)। प्रत्यगात्मा अगर नितान्तेन अविषय नहीं है, वह 'मैं' – बोध का विषय है, तो फिर जिसे हमने विषयी–विषय कहा, बात उसी की हो रही है। यही हमारे अनुभव का आत्मचेतन विषयी है जो आत्म के विषयी होने के साथ ही साथ निरंतरीयक भाव से विषय भी होता है। आत्मचेतना में जो प्रत्यक्–भाव का अपार क्षितिज उभरता है, वहां विषयी अपनी प्रत्यक्–यात्रा में इस विषयी–विषय भाव को लिये ही प्रत्यक् रहता है। इस प्रत्यक्–भाव के सोपान के परे हम संकेत के रूप में विशुद्ध (निर्विषय) विषयी की बात कर सकते हैं – अपनी प्रत्यक्–यात्रा में हम अपने से परे एक अनिर्वचनीय तत्त्व का इंगित पाते ही चलते हैं, जिसे विषयित्व की या विशुद्ध चेतना या चित् कह सकते हैं। पर यह संकेत ही होता है। हम यह भी मान लें, कह लें, कि अध्यात्म की चरम स्थिति में हम इसे पा भी लेते हैं, तो भी विषयी–विषय तो बना रहता है, इसे मिथ्या कहने का क्या कारण? यह अपने–को–मिथ्या–कहता आत्मनिषेध भी हमारा विषयी–विषय ही करता है! यह निषेध विचार में रूप लेता है और विचार आत्मचेतन विषयी–विषय करता है।

हां, यही अपने विषय–भाव से मुक्त होने की साधना भी करता है। लगता है कि अद्वयदर्शन में इसी साधना की आकूति को तत्त्व–दृष्टि देने का एक महत् विचार–प्रयास है। पर आत्मचेतना में हम प्रत्यक्–भाव से अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परे, अपने विशुद्ध चित्–रूप की ओर जाते सोपान की ही नहीं, एक अन्य अर्थमय सोपान की बात भी कर सकते हैं : एक अवरोही सोपान की बात, जैसा कि ऊपर की चर्चा में हुआ है। अद्वैत विषय–विषयी भाव को शुद्ध चित्–रूपी विषयी पर विषय के मिथ्या अध्यास के रूप में देखता है, पर इस भाव को एक अर्थोन्मेष की यात्रा के आधार के रूप में भी देखा जा सकता है, जैसा कि हमने देखने की चेष्टा की है। यह यात्रा सृष्ट्युन्मुख अर्थ–यात्रा है, यह चित् में विषय–विषयी भाव के उभार के साथ बनती दिखती है। इसके भी देशकाल के परे रहते' 'आदि विस्फोट' की बात की जा सकती है। देशकाल को रूप देती, यह जड़ और फिर कई जीव–संभावनाओं में विषय–विषयी का रूप लेती है। यह भी स्फोट ही है। इस यात्रा को ही स्फोट की यात्रा कहा जा सकता है। चित् का स्वतंत्र सृष्ट्युन्मुख व्यापार – यात्रा कहिये – अर्थोन्मेषमय ही हो सकता है। आत्मचेतना के साथ ही यह यात्रा एक नये उन्मेष के साथ आत्मोन्मुख – या कहिये–चिदुन्मुख होती दिखती है। पर यह भी कह सकते हैं कि अब यह आत्मोन्मुखता को साथ लिये जगदुन्मुख होती है। सृष्टि को अब इस यात्रा के रूप में देखा–भाँपा भी जा सकता है। आत्मचेतना की दोहरी चिदुन्मुख जगदुन्मुखता में अर्थ की भूमा का विस्तार होता भी दिखता है।

चित् की यह आत्मसृजन की यात्रा ही सत् हैं, या चित्–सत् कहिये। विषय–निषेधी अध्यात्म का पक्ष लेकर चिदुन्मुखता को ही यात्रा का परम लक्ष्य या पुरुषार्थ कहा जा सकता है। पर फिर यात्रा का कोई अर्थ नहीं बनता। अपनी आत्यंतिकता या 'विशुद्धता' में यात्रा को माया, मिथ्या, कल्पना, विकल्प .... ठहराती यह अध्यात्म दृष्टि चिद्भिन्न के निराकरण की ओर उन्मुख दिखती है, पर यह भी अर्थोन्मुखता का ही एक पक्ष है। विषय–विषयी भाव के बिना संभव नहीं। यों भी सोचिये। विषय–विषयी भाव के बिना विशुद्ध चित् का अर्थ ही क्या होगा? उसे परम अद्वय सत् कह लीजिये। पर ऐसे सत् में और विशुद्ध तमिस्रा के निरर्थक, वैनाशिक असत्–न–होने– में अंतर क्या होगा? बौद्धों में बात को और भी सम्यक् भाव से सही पकड़ के साथ कहा गया है। बुद्ध या बुद्धों की स्थिति को विषय–विषयी भाव के परे, उसके बाहर रखा गया है। शंकर को ऐसी स्थिति 'वैनाशिक' ही लग सकती है। पर फिर यह पूछें कि केवल विषयी के होने में और न–होने की अलीक मात्रता में अंतर क्या? अगर हम कहें कि विषयी जब अपने निर्विषय स्वरूप को पा लेता है तब विषय किसी भी रूप में नहीं रहता, तो इसे चाहे परम सत् की या सन्मात्रता की अवस्था कह लीजिये, पर इसमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और परम तमिस्रा में क्या भेद? इसका ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता, चित् या सत् मात्र को भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और अनुभव विषय–विषयी भाव को ऊह्य रखते हैं। फिर यह भी सोचिये। विषयी के सत् स्वरूप में उसके परमार्थ में – अगर विषयी–विषय जैसे आत्मद्वैध की बात ही असंभव है तो फिर प्रश्न वहीं लौट आता है : विषय प्रतीत भी कैसे होता है? पर एक दूसरा, जो हम पूछ चुके हैं, प्रश्न अधिक समीचीन है : विषय–प्रतीति होती क्यों है? विषय के प्रतीत होने का अर्थ क्या? अद्वैती सत् को अर्थ से अलग रखना चाहता है, पर, यह भी पूछिये, निरर्थक सत् के होने और न–होने में अंतर क्या? फिर चेतना के सत् की ओर ही उन्मुख होने का अर्थ ही क्या? हां, इसमें वह भ्रान्त भी होती है, और पूर्व प्रवृत्तियों के प्रति उसके विमुख होने में यह भी देखा जा सकता है कि वह आत्मवंचित भी होती है। तभी सत् को हम एक संधान के रूप में पाते हैं। पर भ्रांति को यों समझना कि विषयी अपने को पाने के लिये अपने को खोता है। विषय–प्रपंच की भ्रांति बुन कर उसमें अपने को फाँसता है ताकि प्रपंच मुक्त हो सके, तो बात का कोई अर्थ बनता नहीं दिखता। और अगर ऐसा है भी तो प्रपंच फिर सार्थक–सप्रयोजन ही ठहरता है, चाहे एक आत्मशाप जैसा अनर्थ का स्वेच्छया वरण ही क्यों न हो। लेकिन फिर यह भी ठहरता दिखेगा कि यह सचमुच होता है, नहीं तो इस सारे व्यापार का कोई अर्थ ही नहीं बनेगा; न यह संभव होगा! विषयी को ही सत् ठहराना और विषय को मिथ्या, विचार की यह दिशा अतंतः विषय–विषयी भाव के सर्वथा निराकरण की ही दिशा हो सकती है, जैसा कि बौद्ध विचार में हम पाते ही हैं। केवल विषयी को सत् मान लेना और विषय का आमूल निषेध, यहीं तक युक्ति को ले जायें तो विचार की इस दिशा में यात्रा अधूरी ही रह जाती दीखती है। विषय का निषेध विषयी के निषेध को स्वतः खींच लाता है, क्योंकि विषयी का विषय से अविनाभाव है। यह सच है कि विषयी की – चेतना की – ऐसी भी स्थितियां होती हैं, मूर्च्छा में, सुषुप्ति में, ऐनेस्थीसिया के प्रभाव में (और शायद पशुओं की कुम्भकर्णी शीत–निद्रा में भी, अगर उसमें स्वप्न न होता हो).... जब चेतना निर्विषय रहती जान पड़ती है। पर ऐसी स्थितियों के होने को हम जानते विषय–विषयी भाव में ही हैं। ऐसी स्थितियां विषय–विषयी भाव को ऊह्य रखती हैं – विषय–विषयी भाव स्पष्ट ही उनके गर्भ में रहता है – नहीं तो इनकी बात नहीं हो सकती। निर्विषयित्व को ही हम चेतना – चित् – का तत्त्व मानें तो फिर होने का ही कोई अर्थ नहीं बनता। विषय को मिथ्या मानने वाली दृष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को यही अभिप्रेत भी है। पर फिर अद्वय विषयी के होने का भी क्या अर्थ ? या बुद्धों की विषय–विषयी भाव से विमुक्त स्थिति के भी होने का क्या अर्थ होगा – अंध तमिस्र के सिवा? उसका होना न होने से भिन्न क्या होगा? जिसे हम जड़ कहते हैं वह भी विषय–विषयी भाव से बाहर नहीं होता; विषय–विषयी भाव की पकड़ में ही वह 'जड़' कहलाता है। या मूर्च्छा, सुषुप्ति .... को ही लीलिये। ये भी अपने आप में ये जड़ ही हैं – अगर ये विषय–रूप में भी विषयी–ग्राह्य न हों। विशुद्ध जड़मात्रता के होने के होने न होने में अंतर ही क्या हो सकता है? ऐसा होना और न–होना,दोनों एक समान निरर्थक हैं। पर यही बात चिन्मात्रता के लिये भी कही जा सकती है – जड़मात्रता की तरह ही चिन्मात्रता का होना और न होना एक सा उभरता है, और वैसा ही अर्थ–शून्य। विषय–विषयी भाव का सर्वस्व निराकरण सत् का भी – होने मात्र का ही – सर्वस्व निराकरण ही है। बौद्धों को यही अभिप्रेत है।

सच यह है कि विषयी विषय की ओर स्वरूपेण उन्मुख होता है और विषय को सत् मानकर उन्मुख होता है, असत् मानकर नहीं। इस सदुन्मुखता में उभरता यह है कि चेतना के – या चित् के – अपने ही होने में जो सत् निहित है, वही विषयी के साथ विषय का रूप लेता है। विषय के प्रति यह बोध विषयी–चेतना में निहित रहता है; विषयी–चेतना या चित् अपने स्वरूप के अंतर्गत ही, अपने मर्म में, विषय को सद्गर्भ पाती है। सत् को चित्–सत् कहने का – मैं समझता हूं – यही निहिताशय है।

उपनिषद् में ऐसी व्यंजना सहज पाई जा सकती है। विशुद्ध विषयी की बात संभव इसलिये है कि आत्मचेतना अपने से तटस्थ होती है तो उसमें ऐसा विषयित्व आ जाता है जो विषयी–विषय भाव का द्रष्टा–समीक्षक–परीक्षक हो पाता है। विषयी–विषय भाव को वह अपने ही भीतर पर अपने से अलग भी पाता है – अपने से हट कर ही अपने प्रति उन्मुख होता है। अपनी इस प्रत्यङ्मुखता में विषयी जितना अपने भीतर उतरता है, उसमें पारदर्शिता – स्वच्छ स्वप्रकटता – बढ़ती दिखती है, उसका द्रष्टृत्व स्वदृश्यत्व को अपने से मानो अभिन्न पाता है। द्रष्टा–दृश्य के बीच एक स्वोज्ज्वल एकत्वप्राण अभेद–गर्भ परस्परता उभर आती है। चाहे भेद बना रहता हो। द्रष्टृ चेतना मानो अपने को विषयी ही पाती है, और अपने विषय–भाव को भी विषयी से अभिन्न। हमने चेतना को सदुन्मुख कहा है। विषयिता की इस स्थिति में चेतना में उसकी सदुन्मुखता का गहनतम – या कहिये कि 'तात्त्विकतम' – रूप देखा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर फिर उसकी विषय में विभक्तता को उसी की स्वसृष्टि के रूप में उभरता भी देखा जा सकता है। हम यह भी कह सकते हैं कि यहां हम चेतना में सदुन्मखता के बीजभाव की झलक पाते हैं। प्रत्यक् चेतना अपने ही सत् की – स्वरूप की – ओर उन्मुख होती है, और उसका यह सत् विषय–विषयी का विस्तार लेता दिखता है। चेतना अपने इस सत् को अपने अर्थ रूप में पाती हुई, साध्य पाती है। उसकी अर्थोन्मुखता में आत्मद्रष्ट्रत्व आत्मनियोजकत्व से अभिन्न होता है। चेतना के इस आत्म–सृजन व्यापार का इंगित हम अपने,अर्थ के उन्मेष या सृजन के अनुभव में प्रकटतर पाते हैं। हम अपने को अपना स्रष्टा पाते हैं, और सृजन के सत् को – उसके अर्थ को, प्रामाणिकता को, आत्म की प्रत्यक्ता में पाते हैं। अर्थोन्मेष के व्यापार में हम सत् – सदर्थ – के तात्त्विक स्वरूप की व्यंजना देख सकते हैं। फिर भी यह विचित्र ही है कि यह सत् चित् के लिये संधेय होता है! भ्रांति की, अनर्थ की संभावना बनी रहती है। बल्कि विषयी की आत्मोन्मुख यात्रा के ऊर्ध्वोन्मेष के साथ अनर्थ गाढ़तर होता दिखता है। सृष्टि के उन्मेष–क्रम में हमने पाया ही कि श्रेय–बोध के साथ पिछली (हिंसा जैसी) प्रवृत्तियां अर्थ में हेठी और ऊनी ही नहीं, निराकरणीय उभरती हैं। पर यह पशु–प्रवृत्ति जिजीविषा की योजना के भीतर प्राणरक्षण तक सीमित है। मनुष्य ऐसी जिजीविषा से ऊपर उठ कर ही मनुष्य होता है। मनुष्यभाव की उत्क्रांत जिजीविषा अपने स्वतंत्र, ऊर्ध्वतर अर्थ–संधान के साथ हिंसा, नृशंसता, स्वार्थ की आत्मभरिता, मोह .... को हेय पाती है। जगत् को केवल हानोपादान का विषय नहीं, जिज्ञासा का विषय पाती है। पर ऐटम बम जैसी आत्मविनाशी, जगत्–विनाशी सृष्टि भी हमारी ही है! अर्थ के उत्तुंग होने के साथ अनर्थ भी पाँव मिला कर चलता दिखता है।

एक तीखा प्रश्न यहां यह भी जागता है कि सृष्टि की यात्रा अगर उन्मेष की यात्रा है तो उन्मेष सृष्ट–सर्वस्व का क्यों नहीं होता? पिछली सृष्टि ज्यों की त्यों बनी रहती है! जड़, प्राण, पशु, ये वैसे के वैसे रहते हैं ! अंततः सृष्टि–व्यापार रहस्यमय ही ठहरता है।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग
श्यामनगर, अजमेर रोड,
जयपुर - 302006

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053